संक्षिप्त जैन इतिहास।

द्वितीय भाग-द्वितीय खंड।

लेखकः—

श्रीमान् बाबू कामताप्रसादजी जैन एम. आर. ए. एस.

ऑ० संपादक 'वीर' और जैन ऐन्टिक्वेरी तथा भगवान् पार्श्वनाथ,
भगवान महावीर, सत्यमार्ग, लॉर्ड महावीर, चेलनी आदि
ग्रन्थोंके रचयिता।

प्रकाशकः—

मूलचंद किसनदास कापडिया,

संपादक "दिगंबर जैन" व मालिक दिगंबर जैन पुस्तकालय,
कापडियाभवन—सूरत।

स्वर्गीय सौ० सविताबाई, धर्मपत्नी मूलचंद किसनदास
कापडियाके स्मरणार्थ 'दिगंबर जैन' के २७वें
वर्षके ग्राहकोंको भेंट।

सौ० सविताबाई— —स्मारक ग्रंथमाला नं. ४
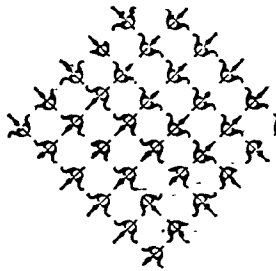
हमारी धर्मपत्नी सविताबाईका स्वर्गवास सिर्फ २२ वर्षकी युवान वयमें एक २ पुत्र-पुत्रीको छोडकर वीर सं० २४५६ में हुआ तब हमने उनके स्मरणार्थ २०००) इस लिये निकाले थे कि यह रकम स्थायी रखकर इसके सूदसे 'सविताबाई स्मारक ग्रन्थमाला' प्रतिवर्ष निकाली जाय और उसका " दिगंबर जैन " या जैन महिलादर्श द्वारा विना मूल्य प्रचार किया जाय।

इस प्रकार यह ग्रन्थमाला चालू होकर आज तक निम्नलिखित ग्रन्थ इस मालामें प्रकट हो चुके हैं—

१—ऐतिहासिक स्त्रियाँ।

२—संक्षिप्त जैन इतिहास द्वि० भाग प्र० खंड।

३—पंचरत्न।

और चौथा यह सं० जैन इतिहास द्वि० भाग-द्वि० खंड प्रकट किया जाता है और 'दिगम्बर जैन' के २७ वें वर्षके ग्राहकोंको भेटमें दिया जाता है।

जैन समाजमें दान तो अनेक भाई बहिन निकालते हैं परंतु उसका यथेष्ट उपयोग नहीं होता। यदि उपरोक्त प्रकारके दानकी रकमको स्थायी रखकर स्मारक ग्रंथमाला निकाली जानेका प्रचार हो जावे तो जैन समाजमें अनेक जैन ग्रन्थोंका सुलभतया प्रचार हो सकेगा।

वीर सं० २४६०
ज्येष्ठ सुदी ६.

मूलचंद किसनदास कापडिया।
संपादक, दिगम्बर जैन-सूरत।

भूमिका ।

कुछ समयसे जैन संप्रदायके कई विभागोंमें अहिंसावादने ऐसा भ्रान्त रूप धारण कर लिया है कि लोगोंकी दृष्टिमें वह उपहासास्पद होरहा है। इसी भ्रमको दूर करनेके लिये यह "संक्षिप्त जैन इतिहास" लिखा गया है। इसे हम उक्त संप्रदायकी जागृतिका शुभ लक्षण अनुमान करते हैं।

यद्यपि "संक्षिप्त जैन इतिहास" के इस खण्डमें प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्रीके साथ साथ 'जैन कथाओं' और 'जनश्रुतियों' का उपभोग किये जानेसे अनेक स्थलोंपर मतभेद होनेकी सम्भावना भी होसकती है, तथापि इसमें इतिहास–प्रेमियोंके और विशेषकर जैन संप्रदायके अनुयायियोंके मनन करनेके लिये बहुत कुछ सामग्री उपस्थित कीगई है। इसके अलावा इसकी लेखनशैली भी संकुचित सांप्रदायिकताकी मनोवृत्तिसे परे होनेके कारण समयोपयोगी और उपादेय है। हम, इस सुन्दर संक्षिप्त इतिहासको लिखकर प्रकाशित करनेके लिये, श्रीयुत बाबू कामताप्रसादजी जैनका हृदयसे स्वागत करते हैं। इस इतिहासके पूर्ण होनेपर हिन्दी भाषाके भंडारमें एक ग्रन्थ-रत्नकी वृद्धि होनेके साथ ही जैन संप्रदायका भी विशेष उपकार होगा।

आशा है इस इतिहासके द्वितीय संस्करणमें इसकी भाषाको और भी परिमार्जित करनेका प्रयत्न किया जायगा।

आर्कियालाजिकल डिपार्टमेंट,
जोधपुर। } विश्वेश्वरनाथ रेउ।

लीजिये।

प्रिय मित्र प्रॉ० हीरालालजी!
अपने प्रिय विषयकी यह
एकमात्र कृति-प्रेम-
भेंट स्वीकार
कीजिये;
और
इससे भी सुन्दर—
श्रेष्ठ स्वकीय कृतिसे
साहित्य-उद्-
नको समुन्नत
बनाइये।

—कामताप्रसाद जैन।

आभार।

"संक्षिप्त जैन इतिहास" के दूसरे भागका यह दूसरा खण्ड पाठकोंके हाथमें देते हुए हमें हर्ष है। ऐसा करनेमें हमारा एकमात्र उद्देश्य ज्ञानोद्योत करना है। इसलिए हमें विश्वास है कि पाठकगण हमारे इस सद्प्रयाससे समुचित लाभ उठावेंगे और भारतीय जैनोंके पूर्व गौरवको जानकर अपने जीवनको समुन्नत बनानेके लिए उत्साहको ग्रहण करेंगे। इस ग्रन्थनिर्माणमें हमें बहुतसे साहित्यकी प्राप्ति और सहायता हमारे मित्र और इस ग्रंथके सुयोग्य प्रकाशक श्रीयुत सेठ मूलचंद किसनदासजी कापड़िया; अध्यक्षगण, श्री इम्पीरियल लायब्रेरी कलकत्ता और जैन ओरियंटल लायब्रेरी आरासे हुई है, जिसके लिये हम उनका आभार स्वीकार करते हैं। प्रूफ-संशोधन आदि कार्य कापड़ियाजीने स्वयं करके जो हमारी सहायता की है, वह हम भूल नहीं सक्ते। उसके लिये भी कापड़ियाजी धन्यवादके पात्र हैं।

श्रीमान् साहित्याचार्य पं० विश्वेश्वरनाथजी रेउ, एम० आर० ए० एस०, क्यूरेटर, सरदार म्युजियम–जोधपुरने इस खंडकी भूमिका लिखनेकी कृपा की है, हम उनके इस अनुग्रहके लिये उपकृत हैं।

इतिहासके प्रस्तुत खंडमें हमने वर्णितकालकी प्रायः सब ही मुख्य घटनाओंको प्रगट करनेका प्रयत्न किया है। ऐतिहासिक

वार्ताके साथ जनश्रुतियों और कथाओंका भी समावेश हमने इस भावसे कर दिया है कि आगामी ऐतिहासिक खोजमें वह संभवतः उपयोगी सिद्ध हों। किन्तु जो बात मात्र जनश्रुति या कथा ही पर अवलम्बित है, उसका हमने स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख कर दिया है। इसलिए किसी प्रकारका भ्रम होनेका भय नहीं है। इतनेपर भी हम नहीं कह सक्ते कि इस खंडमें वर्णितकालकी सब ही घटनाओंका ठीक-ठीक उल्लेख हुआ है। पर जो कुछ लिखा गया है वह एकमात्र ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे। अतः संभव है कि किन्हीं स्थलोंपर मत-भेदका अनुभव प्रबुद्ध पाठक करें। ऐसे अवसरपर निष्पक्ष तर्क और प्रमाण ही कार्यकारी होसक्ते हैं। उनके आलोकमें समुचित सुधार भी किये जासक्ते हैं। इस दिशामें कर्मशील होनेवाले समालोचकोंका आभार हम पहले ही स्वीकार किये लेते हैं।

जसवन्तनगर (इटावा)
२४ मई १९३४

विनीत—
कामताप्रसाद जैन।
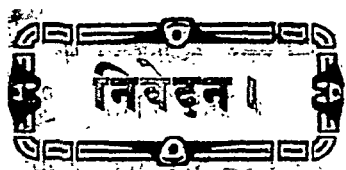
जैन समाजमें ऐतिहासिक खोजपूर्ण पुस्तकोंके सुप्रसिद्ध लेखक-श्री० बा० कामताप्रसादजी जैन कृत-"संक्षिप्त जैन इतिहास दूसरा भाग-प्रथम खंड" तीसरे वर्ष हमने प्रकट किया था और इस वर्ष यह दूसरे भागका दूसरा खंड प्रगट किया जाता है जिसमें इस्वीसन् पूर्व २५० वर्षसे इस्वीसन् १३०० तकका जैनोंका प्राचीन इतिहास संक्षिप्त रूपसे वर्णित है। बा० कामताप्रसादजीकी ऐतिहासिक खोजकी हम कहांतक प्रशंसा करें! आज जैन समाजमें तुलनात्मक दृष्टिसे जैन इतिहासकी खोज करने व उसको प्रकाशमें लानेवाले यह एक ही व्यक्ति हैं। यदि आपकी लेखनीको उत्तेजित की जाय तो आपके द्वारा और भी अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे व प्रकट किये जा सकेंगे।

यह ग्रन्थ 'दिगम्बर जैन' (सूरत) के २७ वें वर्षके ग्राहकोंको भेंटमें दिया जायगा तथा जो 'दिगंबर जैन' के ग्राहक नहीं हैं उनके लिये कुछ प्रतियां विक्रयार्थ भी निकाली गई हैं। आशा है कि ऐसे ऐतिहासिक ग्रन्थका अच्छा प्रचार होगा।

-प्रकाशक।

विषयसूची।

शुद्धयाशुद्धिपत्र ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
	३	जनश्रति	जनश्रुति
,,	,,	अवज्ञात	अवगत
४	१५	मूर्तियाँ	मूर्तियों
४	२२	1932	1932, pp. 159-160
,,	२४	इंटिका०	इंहिका०
६	१६	ऋतु	ऋतु
,,	22	Salisaka	Salisuka
7	22	Jain Antiquary	×
११	१४	'मिलिन्दपाह'	'मिलिन्द-पण्ह'
१४	६	कालाचार्य	कालकाचार्य
,,	२३	आगे पढ़ो 'पृ० २३३	व Ancient India, p. 143.
१५	१	'शाउनानुशाउ'	'शाहनानु शाह'
१८	१८	मंदिरादि	मंदिरादिको
२०	२२	२८९	२४९
21	16	Jabors Jbors.	XVI. P. 249.
२४	१९	४५९	४५-४५९
२६	२	रुद्रसिंह	रुद्रसिंहका
३४	२०	की थी।	रक्खी थी।
३६	१७	गये	×
38	9	Demeterioo	Demeterios
४३	२	जनपद	जानपद
४६	१	ममा	मना
५०	९	जाडगढ़	जाउगढ़
५१	१९	शीलारेख	शिलालेख

९२	३	और	
९४	११	विरुद्ध	विरुद्ध
९७	१७	नागवंश	नागवंशी
६०	२२	५५–५६	५२–५६
६३	१५	शास्त्रोंको	शास्त्रोंके
,,	२०	नहपानको	×
६४	५	किशा	किया
,,	२२	२७५–२७९	२७८–२७९
६५	२१	१८	१८ वें
70	21	Shulbhadra's	Sthulbhadra's
७४	१७	'कठिन है' शब्दके आगे पढ़ो "मूलमें दिगंबर जैनी अपने प्राचीन नाम 'निर्ग्रन्थ'से ही प्रसिद्ध रहे। श्वेतांबर अपनेको 'श्वेतपट' कहते थे, परन्तु दिगंबर तब 'निर्ग्रंथ' नामके ही अभिहित थे; जैसे कि कादंबर वंशी राजाओंके ताम्रपत्र आदिसे प्रगट है।"	
७४	१९	(१४८–४९)	(११ ४८–४९)
७६	२३	भूमूर्ति	मूर्ति
,,	,,	सेषित	से भूषित
७८	१५	वर्णनने	वर्णनसे
८०	१०	प्रन	उन
,,	19	Mathera	Mathura
८१	११	तथापि	तथा
८६	७	भी	श्री
८८	१६	होना	होता
,,	१९	२७९७	२७९)
९७	१५	बण्णदेव	बप्पदेव
९८	१	मल्लिपेषण	मल्लिपेण

	१	जैनधर्म भी	जैनधर्म
	३	उसमें भी	उसमें
,,	३	घरोंके	घरोंसे
९९	१७	उपर	ऊपर
,,	१४	सरकारी	यद्यपि सरकारी
,,	१९	किंतु....आया है।	×
१०३	१६	कल्कि	कल्किका
,,	२०	उखका	उसका
,,	२३	भा० ९२२	भा० १३ पृ० ९२२:
१०७	४	संस्थामें	संस्थायें
१०८	२३	पृ० ६७१	कंजाएइं पृ० ६७१
१०९	२१	१–१२	१–७२
११९	२	निर्मित	निर्मित हुआ
११६	२२	सबलसंघेहिं	सयलसंघेहिं
१२१	१३	धीम्वर	धीश्वर
,,	२४	११९	११४
१२९	११	बारप्पा	बाप्पा
१३३	४	तत्कालीक	तात्कालीन
१३८	२३	२	१
१४९	२२	८९	८४
१४७	१९	सचमुख	सचमुच
,,	२१	२९२	२४२
१९३	१९	ज्ञानावर्णव	ज्ञानार्णव
१९९	२२–२३	माप्राए०	माप्रारा०
१७४	२२	६–७–८	६ अंक ७–८
१७७	२१	एडिनेवा०	एडिंजेवा०
१८१	८	शास्त्रविद्या	शस्त्रविद्या

संकेताक्षर सूची।

प्रस्तुत ग्रंथके संकलनमें निम्न ग्रन्थोंसे सहायता ग्रहण की ग
है, जिनका उल्लेख निम्न संकेतरूपमें यथास्थान किया गया है—

अध०=अशोकके धर्मलेख–लेखक श्री० जनार्दन भट्ट एम० ए०
(काशी, सं० १९८०)।

अहि०=‘अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया’–सर विंसेन्ट स्मिथ एम०
ए० (चौथी आवृत्ति)।

अशोक०=‘अशोक’ ले० सर विन्सेन्ट स्मिथ एम० ए०।

आक०=‘आराधना कथाकोष’ ले० ब्र० नेमिदत्त (जैनमित्र
आफिस, सूरत)।

ऑजी०=आजीविक्स–भाग १ डॉ० वेनी माधव बारुआ०
डी० लिट् (कलकत्ता १९२०)।

आसू०=‘आचाराङ्ग सूत्र’ मूल (श्वेताम्बर आगम ग्रंथ)।

अहि०=ऑक्सफर्ड हिस्ट्री ऑफ इन्डिया–विसेन्ट स्मिथ एम.ए.।

इंऐ०=इन्डियन ऐन्टीकेरी (त्रैमासिक पत्रिका)।

इरिई०=इन्सायक्लोपेडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स हेस्टिंग्स।

इंसेजै०=‘इन्डियन सेक्ट ऑफ दी जैन्स’ बुल्हर।

इंहिक्वा०=इंडियन हिसटोरीकल क्वार्टर्ली–सं० डॉ० नरेन्द्रनाथ
लॉ–कलकत्ता।

उद०=‘उवास गदसाओ सुत्त०’-डा० हार्णले (Biblo Indica).

उपु०व०उ.पु.=‘उत्तरपुराण’ श्री गुणभद्राचार्य व पं.लालारामजी।

उसू०=‘उत्तराध्ययन सूत्र’ (श्वेताम्बरीय आगम ग्रंथ) जार्ल
कार्पेंटियर (उपसला)।

एइ०=‘एपिग्रेफिया इंडिका’।

एइमे० या मेएइ०=एन्शियेन्ट इन्डिया एजडिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड ऐरियन'–(१८७७)।

एइजै०=एन इपीटोम ऑफ जैनीज्म–श्री पूर्णचन्द्र नाहर एम०ए०।

एमिक्षट्रा०=' एन्शियेन्ट मिड इंडियन क्षत्रिय ट्राइब्स ' डॉ० विमलाचरण लॅा (कलकत्ता)।

ऐरि०=ऐशियाटिक रिसर्चेज–सर विलियम जोन्स (सन् १७९९ व १९०९)।

एइ०=एन्शियेन्ट इंडिया एजडिस्क्राइब्ड बाई स्ट्रैबो मैक क्रिंडल (१८०१)।

कजाइ०=कनिंघम, जागरफी ऑफ एंशियेन्ट इंडिया–(कलकत्ता १९२४)।

कलि०=' ए हिस्ट्री ऑफ कनारीज लिट्रेचर ' ई० पी० राइस (H. L. S. 1921).

कसू०=कल्पसूत्र मूल (श्वेताम्बरी आगम ग्रन्थ)।

काले०=कारमाइकल लेक्चर्स डॉ० डी० आर० भाण्डारकार।

कैहिइ०=कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐन्शियेन्ट इंडिया, भा० १–रैपसन सा० (१९२२)।

गुसापरि०=गुजराती साहित्य परिषद् रिपोर्ट-सातवीं। (भावनगर सं० १९८२)।

गौबु०='गौतमबुद्ध' के० जे० सॅान्डर्स (H. L. S.)।

चमभ०='चंद्रराज भंडारी कृत भगवान महावीर'।

जवि ओसो०=जनरल आफ दी विहार एण्ड ओडीसा रिसर्च सोसाइटी '।

जम्बू०=जम्बूकुमार चरित्र (सूरत वीराब्द २४४०)।

जमीसो०=जर्नल आफ दी मीथिक सोसाइटी–बेंगलोर।

जराएसा०=जनरल ऑफ दी रायल ऐसियाटिक सोसायटी–लंदन।

जैका०='जैन कानून' (श्री० चम्पतराय जैन विद्यावा० विजनौर १९२८)।

जैग०='जैन गजट' अंग्रेजी (मद्रास)।

जैप्र०=जैनधर्म प्रकाश ब्र० शीतलप्रसादजी (बिजनौर १९२७)।

जैस्तू०=जैनस्तूप एण्ड अदर एण्टीक्वटीज ऑफ मथुरा–स्मिथ।

जैसासं०='जैन साहित्य संशोधक' मु० जिनविजयजी (पूना)।

जैसिभा०=जैन सिद्धान्त भास्कर श्री पद्मराज जैन (कलकत्ता)।

जैशि सं०='जैन शिलालेख संग्रह'–प्रो० हीरालाल जैन (माणिकचन्द ग्रन्थमाला।

जैहि०=जैन हितैषी सं० पं० नाथूरामजी व पं० जुगलकिशोरजी (बम्बई)।

जैसू०(Js.)=जैन सुत्राज (S. E. Series, Vols. XXII & XLV).

टॉरा०=टॉडसा० कृत राजस्थानका इतिहास (वेङ्कटेश्वर प्रेस)।

डिजेबा०='ए डिक्शनरी ऑफ जैन बायोग्रेफी' श्री उमरावसिंह टॉक (आरा)।

तक्ष०='ए गाइड टू तक्षशिला'–सर जॉन मारशल (१९१८)।

तत्वार्थ०=तत्वार्थाधिगम् सूत्र श्री उमास्वाति S. B. J. Vol.।

तिप०='तिल्लोय पण्णत्ति' श्री यति वृषभाचार्य (जैन हितैषी भा० १३ अंक १२)।

दिजै०='दि० जैन मासिक पत्र सं० श्री. मूलचन्द किसनदास कापड़िया (सूरत)।

दीनि०='दीघनिकाय' (P. T. S.)।

परि०=परिशिष्ट पर्व-श्री हेमचन्द्राचार्य ।

प्राजैलेसं०=प्राचीन जैन लेख संग्रह कामताप्रसाद जैन (वर्धा)।

बविओ जैस्मा०=बंगाल, बिहार, ओड़ीसा जैन स्मारक-श्री ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी ।

बजैस्मा०=बम्बई प्रांतके प्राचीन जैन स्मारक ब्र० शीतलप्रसादजी।

बुइ०=बुद्धिष्ट इन्डिया-प्रो० ह्वीस डेविड्स ।

भापा०=भगवान् पार्श्वनाथ-ले० कामताप्रसाद जैन (सूरत)।

भम०=भगवान महावीर- " " "

भमबु०=भगवान महावीर और म०बुद्ध कामताप्रसाद जैन (सूरत)।

भमी०=भट्टारक मीमांसा (गुजराती) सूरत ।

भाई०=भारतवर्षका इतिहास-डॉ० ईश्वरीप्रसाद डी० लिट्ट (प्रयाग १९२७)।

भाअशो०=अशोक-डॉ० भण्डारक (कलकत्ता)।

भाप्रारा०=भारतके प्राचीन राजवंश श्री. विश्वेश्वरनाथ रेउ (बंबई)।

भाप्रासइ०=भारतकी प्राचीन सभ्यताका इतिहास, सर रमेशचंद्र दत्त।

मजैइ०=मराठी जैन इतिहास ।

मनि०=
मज्झिम०= } मज्झिमनिकाय P. T. S.

ममप्रजैस्मा०=मद्रास मैसूरके प्रा० जैन स्मारक ब्र०शीतलप्रसादजी।

महा०=महावग्ग (S. B. E. Vol. XVII).

मिलिन्द०=मिलिन्द पन्ह (S. B Vol. XXXV.)

मुरा०=मुद्रा राक्षस नाटक-इन दी हिन्दू ड्रामेटिस वर्कस, विलसन।

मूला०=मूलाचार वट्टकेर स्वामी (हिन्दी भाषा सहित बम्बई)।

मैअशो०=अशोक मैकफैल कृत (H. L. S.).

मैबु०=मैन्युल ऑफ बुद्धिज्म=(स्पेनहार्डी) ।

रश्रा०=रत्नकरण्ड श्रावकाचार सं० पं० जुगलकिशोरजी (बम्बई)।

राइ०=राजपूतानेका इतिहास भाग १-रा० ब० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ।

रिइ०=रिलिजस ऑफ दी इम्पायर-(लन्दन) ।

लाआम०=लाइफ ऑफ महावीर ला० माणिकचंद्रजी (इलाहाबाद)।

लाभाइ०=भारतवर्षका इतिहास ला० लाजपतराय कृत (लाहौर)।

लाम०=लार्ड महावीर एण्ड अधर टीचर्स ऑफ हिज टाइम-कामताप्रसाद (दिल्ली) ।

लावबु०=लाइफ एण्ड वर्क्स ऑफ बुद्ध घोष-डॉ० विमलाचरण लॉ० (कलकत्ता) ।

वृजैश०=वृहद् जैन शब्दार्णव-पं० बिहारीलालजी चैतन्य ।

विर०=विद्वद् रत्नमाला-पं० नाथूरामजी प्रेमी (बंबई) ।

श्रव०=श्रवणबेलगोला, रा० ब० प्रो० नरसिंहाचार एम० ए० (मद्रास) ।

श्रेच०=श्रेणिक चरित्र (सुरत) ।

सआमिवॉ०=सर आशुतोष मेमोरियल वॉल्यूम (पटना) ।

सकौ०=सम्यक्त्व कौमुदी (बंबई) ।

सजै०=सनातन जैन धर्म-अनु०=कामताप्रसाद (कलकत्ता) ।

संजैइ०=संक्षिप्त जैन इतिहास प्रथम भाग कामताप्रसाद (सूरत)।

सडिजै०=सम डिस्टिंग्गुइस्ड जैन्स उमरावसिंह टांक (आगरा)।

संप्राजैस्मा०=संयुक्त प्रान्तके प्राचीन जैन स्मारक-ब्र० शीतल।

सुसाइजै०=स्टडीज़ इन साउथ इंडियन जैनिज्म प्रो० रामास्वामी आयंगर।

ससू०=सम्राट् अकबर और सूरीश्वर–मुनि विद्याविजयजी (आगरा)।

सक्षट्राएइ०=सम क्षत्री ट्राइब्स इन एन्शियन्ट इंडिया–डॉ० विमलाचरण लॉ०।

साम्स०=साम्स आफ दी ब्रदरेन।

सुनि०=सुत्तनिपात (S. B. E.)।

हरि०=हरिवंशपुराण–श्री जिनसेनाचार्य (कलकत्ता)।

हॉजै०=हॉर्ट ऑफ जैनीज्म मिसेज स्टीवेन्सन (लंदन)।

हिआइ०= }
हिआरूइ= } हिस्ट्री ऑफ दी आर्यन रूल इन इंडिया–हैवेल।

हिग्ली०=हिस्टोरीकल ग्लीनिन्गस–डॉ० विमलाचरण लॉ०।

हिटे०=हिन्दू टेल्स–जे० जे० मेयर्स।

हिड्राव०=हिन्दू ड्रामेटिक वर्क्स विलसन्।

हिप्रीइफि०=हिस्ट्री आफ दी प्री-बुद्धिस्टिक इंडियन फिलासफी बारुआ (कलकत्ता)।

हिलिजै०=हिस्ट्री एण्ड लिट्रेचर ऑफ जैनीज्म–बारोदिया (१८०९)।

हिवि०=हिन्दी विश्वकोष नागेन्द्रनाथ वसु (कलकत्ता)।

क्षत्रीक्लेन्स=क्षत्रीक्लेन्स इन बुद्धिष्ट इंडिया–डॉ० विमलाचरण लॉ०।

संक्षिप्त जैन इतिहास।

द्वितीय भाग–द्वितीय खंड।

(सन् २५० ई० पूर्वसे सन् १३०० ई० तक)

प्राक्कथन।

इतिहासका महत्व।

इतिहासका कार्य सत्य घटनाको प्रकट करना है। जो बात जैसे घटित होचुकी है, उसका वैसा ही वर्णन करना इतिहास है। साहित्य जगतमें पुरातन कथा, पुराण, जनश्रुति आदिका संग्रह इतिहास कहलाता है। सत्य उसका मूलाधार है। सत्य इतिहास ही सजीव इतिहास है और वही इतिहास अपने उद्देश्यमें सफल होता है। मानव जगत सत्य इतिहाससे ही टीकर शिक्षा ग्रहण कर सक्ता है। अतएव मानव हितके लिये यथार्थ इतिहासका निरूपण होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक राष्ट्र और जातिको अपने पूर्वजोंका वास्तविक इतिहास ज्ञात होनेसे, वह अपने गौरव, प्रतिष्ठा और शक्तिको प्राप्त करनेके लिये सचेष्ट होता है। इतिहास उस राष्ट्र और जातिमें नया जीवन, नई स्फूर्ति और नये भावोंको जन्म देता है। वह शिक्षित समाजमें एक युग प्रवर्तकका कार्य करता है।

कथा और जनश्रुति।

इतिहासके महत्वको भुलाकर कोई भी राष्ट्र या जाति जीवित नहीं रह सकती। जैनाचार्य इतिहासके महत्वसे अवज्ञात रहे हैं। जैन वाङ्मयमें 'प्रथमानुयोग' का अस्तित्व इसी बातका द्योतक है। किंतु कहाजासकता है कि कथाओं और जनश्रुतियोंको वास्तविक इतिहास कैसे माना जाय? यह शङ्का तथ्यहीन नहीं है; किंतु किसी राष्ट्र या जातिके इतिहासको प्रकट करनेवाली कथाओं और जनश्रुतियोंको यदि एकदम ठुकरा दिया जाय, तो फिर उस राष्ट्र या जातिका इतिहास किस आधारसे लिखा जाय? अतएव श्रेयमार्ग यह है कि इतिहास-विषयक कथाओं और जनश्रुतियोंको तबतक अस्वीकार न करना चाहिये जबतक कि वह अन्य स्वाधीन साक्षी-शिलालेख आदिसे असत्य सिद्ध न होजाय! बस जैन कथाओं जनश्रुतियों या अन्य परम्परीण मान्यताओंको जैन जातिके इतिहास लिखनेमें भुलाया नहीं जासकता! इसी बातको ध्यानमें रख करके हमने जैन कथाओं और जनश्रुतियोंका भी उपयोग इस इतिहासके लिखनेमें किया है। हां, जहांपर कोई बात इतिहाससे विरुद्ध प्रतीत हुई, वहां उसको अमान्य या प्रकट कर देना हमने उचित समझा है; क्योंकि पक्षपात इतिहासका शत्रु है। प्रस्तुत इतिहास लिखनेमें हमने इस नीतिका ही यथासंभव पालन किया है।

प्रस्तुत इतिहास और उसका महत्व।

'जैन इतिहास' जैन धर्मावलम्बियोंका इतिहास है। अतः जैन धर्म विषयक इस इतिहासमें जैन महापुरुषों, राजा महाराजाओं, आचार्य-विद्वानों, संघ-गणादि सम्बन्धी विशेष घटनाओंका

यथार्थ परिचय और उसका प्रभाव भिन्न २ कालोंमें तत्कालीन परिस्थितिपर कैसा पड़ा था, यह सब कुछ बतलानेका प्रयास किया गया है। इस इतिहासको हमने 'भा० दिगम्बर जैन परिषद्' के प्रस्तावानुसार कई वर्षों पहलेसे लिखना आरम्भ किया था। सौभाग्य-वश इसका प्रथम भाग जिसमें जैनोंके पुराणवर्णित महापुरुषोंका वर्णन है, सन् १९२६ में ही प्रकट होगया था! उसके लगभग छह वर्षोंके पश्चात् उसके दूसरे भागका पहला खण्ड विगत वर्ष फरवरी १९३२ में प्रकाशित हुआ था। दूसरे भागमें ई० पूर्व ६०० से सन् १३०० तकका इतिहास लिखना इष्ट है। उस भागको तीन खण्डोंमें विभक्त किया गया है। पहले खण्डमें भ० महावीरके समयसे शुङ्गकाल तकका वर्णन लिखा गया है। इस दूसरे खण्डमें तबसे सन् १३०० तकका उत्तर भारतसे सम्बन्ध रखनेवाला इतिहास प्रकट किया गया है व तीसरे खण्डमें दक्षिणभारतका इतिहास संकलित करना शेष है।

अन्तिम अंश प्रस्तुत इतिहासका तीसरा भाग होगा और उसमें सन् १३०० के उपरान्त वर्तमानकाल तकका इतिहास प्रकट करना वाञ्छनीय है। किन्तु प्रस्तुत इतिहासको मात्र 'जैन इतिहास' समझना ठीक नहीं है। वस्तुतः वह जैन दृष्टिसे लिखा हुआ और जैनोंकी मुख्यताको लिये हुए भारतवर्षका इतिहास है। इस रूपमें ही उसका महत्व है। एक जिज्ञासु उसको पढ़ लेनेसे जैन इतिहासके साथ २ भारतवर्षके इतिहासका ज्ञान प्राप्त कर सक्ता है। उसके अतिरिक्त जैन इतिहास विषयका यही अपनी श्रेणीका पहला ग्रन्थ है।

प्रस्तुत इतिहासके प्रथम भाग और दूसरे भागके प्रथम खण्डमें

चौबीस तीर्थङ्कर । जैनधर्मके स्वरूप, उसकी प्राचीनता और उसके मुख्य चौवीस तीर्थङ्करोंके विषयमें बहुत कुछ लिखा जाचुका है। उसको यहांपर दुहराना व्यर्थ है; किन्तु हालमें चौवीस तीर्थङ्करोंके विषयमें एक नई शङ्का खड़ी हुई है—उनके अस्तित्वको काल्पनिक कहा गया है[१]। यदि यह कथन किसी प्रमाणके आधार पर होता—कोरी कल्पना न होती, तो इसे कुछ महत्व भी दिया जाता, परन्तु यह निराधार है और इससे ऐसी कोई बात प्रगट नहीं होती जिससे चौवीस तीर्थङ्कर-विषयक मान्यता बाधित हो। प्रत्युत स्वाधीन साक्षीसे इस जैन मान्यताका समर्थन होता है। भारतीय शिलालेख, वैदिक और बौद्ध साहित्य उसका समर्थन करते हैं, यह पहले लिखा जाचुका[२] है। हालमें 'मोइन-जो-दरो' के पुरातत्वपर जो प्रकाश पड़ा है, वह उस कालमें अर्थात् आज़से लगभग पांच हजार वर्ष पहले जैन धर्म और उसके साथ जैन तीर्थङ्करोंका अस्तित्व प्रमाणित करता है। वहांसे ऐसी नग्न मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, जिनकी आकृति ठीक जैन मूर्तियाँ सदृश है और उनपर जैन तीर्थङ्करोंके चिह्न बैल आदि हैं[३]। एक लेखमें स्पष्टतः 'जिनेश्वर' भगवानका उल्लेख है[४]।

१—"जैनजगत" में इसी प्रकारका लेख प्रगट किया गया है। २—"संक्षिप्त जैन इतिहास" प्रथम भागकी प्रस्तावना तथा द्वितीय भाग प्रथम खंड पृ. ३

3—"A standing image of Jain Rishabha in **Kayotsarga** posture.........closely resembles the pose of the standing deities on the Indus seals, etc. etc." —*Modern Review, Aug. 1932.*

४—मुद्रा नं० ४४९ पर 'जिनेश्वर' शब्द अङ्कित है। देखो इंटिक्वा०, भा० ८ इन्डससील्स पृ० १८

इन बातोंको देखकर विद्वान् जैनधर्मका सम्बन्ध उनसे स्थापित करते हैं। इस साक्षीसे तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथके बहुत पहले जैनधर्मका अस्तित्व प्रमाणित होता है। इस दशामें भ० पार्श्वनाथके पहले भी तीर्थङ्करोंका होना आवश्यक है। अब यदि उनको काल्पनिक मान लिया जाय तो ई० पूर्व ८–९ वीं शताब्दीके पूर्व जैनधर्मकी सत्ता न होनी चाहिये। किन्तु यह उपरोक्त पुरातत्व विषयक साक्षीसे बाधित है। अतएव भ० पार्श्वनाथके पूर्ववर्ती तीर्थङ्करोंको वास्तविक व्यक्तियां मानना उचित है।

जैनधर्मकी विशेषता। जैन धर्म एक सत्य अर्थात् विज्ञान है। सत्य होनेके कारण उसका व्यवहारिक होना लाजमी है। वस्तुतः जैन इतिहास उसे एक ऐसा ही धर्म प्रमाणित करता है। हां, जैनियोंकी वर्तमान शोचनीय दशा हमारी इस व्याख्याको एक अतिसाहसी-सा वक्तव्य दर्शाती है; किन्तु जरा देखिये तो आजकलके भारतीय धर्मोंके अनुयायियोंको! उन धर्मोंके मूल सिद्धांत कुछ हैं और उनके अनुयायियोंका आचरण आज कुछ और है। जैनी भी अपने धर्मके मूल सिद्धांतोंसे बहुत कुछ भटक गये हैं। उनका पूर्व इतिहास और धर्मशास्त्र इस व्याख्याकी साक्षी है। उदाहरणतः जैनधर्मके अहिंसा सिद्धान्तको ले लीजिये। आज इस सिद्धांतकी जैसी मिट्टी पलीद जैनियोंने की है,

---

1–Dr. Pran Nath writes in the Indian Hist: Quarterly (Vol. VIII No. 2): "The names and symbols on Plates annexed would appear to disclose a connection between the old religious cults of the Hindus and Jainas with those of the Indus people."

वैसी शायद ही कभी हुई है। अहिंसा तत्व मूलमें मनुष्यको शूरवीर बनानेवाला है। किन्तु आजके जैनी उसे कायरताका जनक मान रहे हैं। नौबत यहांतक पहुंची है कि अहिंसाके झूठे भयके कारण जैनी अपनी, अपने बालबच्चों और धन सम्पतिकी रक्षा करने योग्य भी नहीं रहे हैं। किन्तु जैन इतिहासको देखिये; वह कुछ और ही बात बतलाता है। अहिंसा अणुव्रतको पालनेवाले अनेक जैन वीर ऐसे हुये हैं, जिन्होंने देश और धर्मके लिये अगणित युद्ध रचे थे। मौर्य्य सम्राट् चंद्रगुप्तने अपने भुजविक्रमसे अपना साम्राज्य स्थापित किया था। उन्होंने ही यूनानी बादशाह सिल्यूकसको मार भगाकर भारतकी स्वाधीनताको अक्षुण्ण रक्खा था।

सम्राट् सम्प्रतिने देश-विदेशमें धर्म-साम्राज्य स्थापित करनेका उद्योग किया था। उसके उत्तराधिकारी शालिसूकने सौराष्ट्रको अपने असिबलसे विजय करके वहां जैनधर्मका प्रचार किया था। इसे उन्होंने अपनी महान 'धर्मविजय' कहा है! इसी तरह कलिङ्ग-

१-हिन्दू ग्रन्थ 'गर्गसंहिता' के 'युगपुराण' में यह उल्लेख इस प्रकार है:-"तस्मिन् पुष्पपुरे रम्ये जनाराम शताकुले। ऋतुकर्मक्षयाकूतः शालिशूको भविष्यति॥ स राजाकर्मनिरतो दुष्टात्मा प्रियविग्रहः। सौराष्ट्रमर्दयन् घोरं धर्मवादी ह्यधार्मिकः॥ स्वं ज्येष्ठं भ्रातरं साधुं संप्रति प्रथयन् गणैः। ख्यापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्॥" दीवानबहादुर प्रो० के० ध्रुव इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं:—

"In the beautiful city of Puspapura studded with hundreds of Public parks, there will arise Salisaka intent on the abolition of sacrificial ritual. That wicked king, addicted to evil deeds, taking pleasure in (religious) squabbles, talking

चक्रवर्ती ऐल खारवेलने अनेक संग्रामोंमें अपना शौर्य प्रकट करके धर्मप्रभावना की थी। उनके भयसे यूनानी बादशाह दमित्रय भारत छोड़कर भाग गया था। जैन वीर खारवेलने पुनः स्वाधीन भारतकी प्रतिष्ठाको बाल २ बचा लिया! यह सब ही वीर परम धर्मात्मा श्रावक थे। चन्द्रगुप्त तो अन्तमें जैन मुनि होगये थे। खारवेलने कुमारीपर्वतपर उग्रोग्र व्रत-उपवासोंको करके अपनेको क्षीण-संस्कृत बना लिया था। अहिंसा तत्त्वको उन्होंने ठीक-ठीक समझा था और उसका प्रकाश अपने व्यक्तित्वमें खूब ही किया! इसी लिये भारतीय विद्वान जैन धर्मको अपने वास्तविक रूपमें शक्ति-शाली धर्म प्रकट करते हैं। वह कहते हैं कि वह कर्मवीरोंका धर्म है। अकर्मण्य पुरुषोंका नहीं! वस्तुतः बात भी यही है।

जैनाचार्य अपने देश और धर्मके लिये मनुष्यको कर्तव्यशील होनेका उपदेश देते हैं[२]। एक श्रावकके लिये वात्सल्य-धर्म वह हर तरह--जरूरत हो तो असिबलसे भी अपने धर्मात्मा भाइयोंकी रक्षा करना

religion but (really) irreligious, steeped in delusion; will terribly prosecute the people of Saurastra and proclaim the so-called Religious Conquest, contributing thereby to the glorification of the religiousness of his elder brother Samprati by sections of the Jain community." —*Jbors, XVI p. 24.*

१-Prof. Dr. B Seshagiri Rao, M. A., ph. D, writes: "It appears to me that Jainism is a religion of strength......It is a worker's and not an idler's faith"—*Jain Antiquary, I, 1.*

२-आचार्य सोमदेव 'यशस्तिलकचम्पू' में कहते हैं:—

"यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्यात्, यः कण्टको वा निजमंडलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति, न दीन-कानीन-शुभाशयेषु॥"

बतलाते हैं। वस्तुतः जैन अहिंसा प्रत्येक श्रेणीके मनुष्यके लिये व्यवहार्य है। वह मनुष्यके जीवन मार्गको निर्मल और निशङ्क बनाती है! जबतक जैनी उसके वास्तविक स्वरूपको ग्रहण किये रहे वह खूब फले फूले।

इतिहास सुधार और शौर्यका प्रवर्तक है।

भ० महावीरके निकट प्रायः सारे भारतने अहिंसा धर्मकी दीक्षा ली थी। भारतीय राष्ट्र सच्चा अहिंसक वीर बन गया था। फलतः भ० महावीरका धर्म विशेष उन्नत हुआ था और विदेशी लोग भी भारत-विजयकी लालसासे हताश होकर अपने२ देशोंको लौट गये थे। प्रस्तुत ग्रन्थमें जो इतिहास संकलित है, वह इस व्याख्याको दर्पण-वत् स्पष्ट करता है। हिंदू ग्रंथोंकी साक्षी भी इस कालमें जैन धर्मोत्कर्षका समर्थन करती हैं। यवन, शक आदि विदेशी लोग तक जैनधर्मकी शरणमें आये थे। हिंदू शास्त्रकारोंने इन्हें 'वृषल' कहकर अपने धर्मसे बाह्य प्रकट किया है।[२] इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि जैनधर्म वस्तुतः एक शक्ति-शाली धर्म है और उसके द्वारा जगतका कल्याण विशेष हुआ है।

अर्थ–"जो रणाङ्गणमें युद्ध करनेको सन्मुख हों अथवा अपने देशके कण्टक–उसकी उन्नतिमें बाधक–हों क्षत्रिय वीर उन्हींके ऊपर शस्त्र उठाते हैं–दीनहीन और साधु आशयवालोंके प्रति नहीं" विशेषके लिये देखो "जैन अहिंसा और भारतके राज्यों पर उसका प्रभाव।"
१–'गर्गसंहिता' के उल्लेखसे कि 'वृषल भिक्षुक होंगे' (भिक्षुका वृषला लोके भविष्यन्ति न संशयः' उस समय ब्राह्मणोतर साधुओंकी बाहुल्यता स्पष्ट है। २–'मानवधर्मशास्त्र' (१०।४३–४४)में पौण्ड्र, उड्र, द्रविड़, कम्बोज, यवन, शक आदिको ब्राह्मण विमुख 'वृषल' हुआ लिखा है।

आजकलके जैनियोंको प्रस्तुत इतिहाससे देखना चाहिये कि उनके पूर्वजोंने किस प्रकार धर्मका गौरव प्रगट किया था। जीव मात्रका कल्याण करनेके लिये उन्होंने निःशंक वृत्ति स्वीकार की थी। जैनधर्मका मूल रूप उनके चारित्रमे स्पष्ट है। आज भी उनके आदर्शका अनुकरण करना श्रेयस्कर है। प्रस्तुत पुस्तक पाठकोंके लिये इस विषयमें मार्गदर्शकका कार्य करे, यही हमारी अभिलाषा है। सचमुच इतिहासका कार्य ही यह है। वह सुधार और शौर्यका पाठ पढ़ाता है, मुर्दा दिलोंमें नये उत्साह और नये जोशको जगाता है। भारतको आज ऐसे वीरभावोत्पादक धर्मकी आवश्यक्ता है! भारत-संतान अपने वीर पूर्वजोंको जाने और उन्हें पहचानकर उनके पगचिन्होंपर चलनेका प्रयत्न करे, यही भावना है। सचमुचः-

"यह थे वह वीर जिनका नाम सुनकर जोश आता है।
रगोंमें जिनके अफसानोंसे चक्कर खून खाता है॥"

---

(१)

इन्डो-वैक्ट्रियन और इन्डो पार्थियन राज्य

क्षत्रप व कुशन-साम्राज्य। (सन् २२६ ई० पू० से २०६ ई०)

वैक्ट्रियन और पार्थियन राज्य।

भारतके उत्तरमें यूनानियोंने अपना राज्य स्थापित किया था। सम्राट् चन्द्रगुप्तके वर्णनमें लिखा जाचुका है कि सिल्यूकस नाइकेटर भारतसे परास्त होकर बलख आदिको और लौट गया था। सन् २६१ ई० पू०में सिल्यूकसकी मृत्युके पश्चात् उसका पुत्र एण्टिओकस राजा हुआ परन्तु

अयोग्य होनेके कारण बलख (बैक्ट्रिया) और पार्थियावाले सन् २५० ई० पू० के लगभग उससे स्वाधीन होगये। भारती सीमापर सिकन्दरके पश्चात् इन यूनानियोंके हमले बराबर होते रहे थे, किन्तु सिल्यूकसके बाद पहला यूनानी राजा जिसने पंजाबपर हमला किया डिमिट्रीअस थे। डिमिट्रीअसने अपना अधिकार मथुरा तक जमा लिया था और वह मगधको भी सर करना चाहता था; किंतु सम्राट् खारवेलके भयसे वह मथुरा छोड़कर चला गया था।* फलतः यूनानियोंका भारतीय सीमा पंजाव व सिंधुपर अधिकार होगया था।[1] इनमें मेनेन्डर नामका राजा बहुत प्रसिद्ध था। सन् १६० ई० पू०से सन् १४० ई० पू० तक वह काबुलका शासक था। उसने सन् १५५ ई० पू० के निकट भारतपर चढ़ाई की थी।[2] मि० स्मिथने इस घटनाका समय ई० पू० १७५ माना है।

राजा मेनेन्डर व जैन-धर्म

मेनेण्डर (मनेन्द्र) या मिलिन्दका जन्म सिंधुनद-वर्ती प्रदेशमें अर्थात् 'द्वीप अलसन्द' जिसे यूनानी अलेकजिन्ड्रिया कहते थे, वहां हुआ था। उत्तर पश्चिमी भारतपर विजय प्राप्त करके मेनेन्डरने पंजाबके साकल (स्यालकोट) नगरमें अपनी राजधानी स्थापित की थी। साकल उस समय बड़ा समृद्धिशाली नगर था। जैनधर्मका प्रचार भी वहां विशेष था। बौद्ध-धर्म वहां उस समयके बारह वर्ष पहलेसे नहीं था। बौद्ध भिक्षु नागसेनने

१–माइ० पृ० ७७. * जविओसो० भा० १६ पृ० २९८. २–भाप्रारा० भा० २ पृ० १८८. ३–पूर्व० पृ० १८९. ४–मिलिन्द० पृ० १०.

वहां जाकर बौद्ध धर्मका प्रचार किया था। स्ट्रैबोने लिखा है कि मेनेन्डरने पटल (सिन्ध), सुराष्ट्र और सगरडिस (सागर-द्वीप कच्छ) तक अधिकार कर लिया था। उसके शिक्के भड़ौचतक प्रचलित थे और उसकी सेना राजपूताना तक पहुंची थी। मेनेन्डर वीर होनेके साथ ही शास्त्रज्ञ भी था। 'प्लूटार्कने उसे एक अत्यन्त न्यायवान राजा लिखा है। वह इतना लोक-प्रिय था कि इसकी मृत्युके पश्चात् लोगोंने उसका भस्मावशेष आपसमें बांटकर उसपर स्तूप बनाए थे। मेनेन्डरका अधिकार मथुरा, माध्यमिका (चित्तौरके निकट) और साकेत (दक्षिणी अवध) तक होगया था। किन्तु गंगाके आसपास वाले प्रदेशोंमें उसका राज्य अधिक दिनोंतक नहीं रहा था। पातन्जलीके महाभाष्यमें यवनों द्वारा साकेत और मध्यमिकाके घेरेका उल्लेख है।

संभवतः यह उल्लेख मेनेन्डरके आक्रमणको लक्ष्य करके लिखा गया है; क्योंकि यह चढ़ाई पातंजलिके समयमें हुई थी।[1] जष्टिन मेनेन्डरको भारतका राजा लिखता है। बौद्धग्रन्थ 'मिलिन्द पाह' से पता चलता है कि भिक्षु नागसेनके उपदेशसे मेनेन्डरने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था; किन्तु बौद्ध होनेके पहले उसका जैन होना बहुत कुछ संभव है। उसने जिन दार्शनिक सिद्धांतोंपर नागसेनके साथ बहस की थी, वह ठीक जैनोंके अनुसार हैं।[2] स्वयं 'मिलिन्द पण्ह' में कथन है कि पांचसौ यूनानियोंने राजा मेनेन्डरसे भगवान महावीरके धर्म द्वारा मनस्तुष्टि करनेका आग्रह किया था और मेनेन्डरने

१-भाप्रारा० भा० २ पृ० १४२-१४३. २-विशेषके लिये देखो 'वीर' वर्ष २ पृ० ४४६-४४९.

उनका यह आग्रह स्वीकार भी किया था। उसके अधिकारमें आए हुए नगर मध्यमिकाके भग्नावशेषोंमेंसे एकसे अधिक जैनधर्म सम्बंधी लेख निकले हैं।[2] इन सब बातोंसे मनेन्डरका एक समय जैनधर्मावलंबी होना प्रगट है। उसके यूनानी साथियोंमें भी जैनधर्मकी मान्यता विशेष थी।[3] इस समयके लगभग जैन सम्राट् खारवेल द्वारा जैनधर्मका बहु प्रचार हुआ था। जैन धर्मका प्रकाश जगतव्यापी होरहा था।

शक व कुशन आक्रमण।

इससे थोड़े समय पश्चात् यूनानियोंको सिथियन-जातिके लोगोंने जिनको भारतीय शक कहते थे, बैक्ट्रियासे निकाल दिया। साथ ही शक लोगोंने सौराष्ट्र पंजाब और अफगानिस्तानपर भी अपना अधिकार जमा लिया। शक राजा मोआके राज्यमें पंजाब और अफगानिस्तान शामिल थे। धीरे धीरे शकोंकी एक शाखाने, जिसे यूची कहते थे, १५० ई० पू० के करीब बैक्ट्रियाको जीत लिया और वह वहां पांच जनसमूहोंमें बंट गई। इनमेंसे एक कुशनने सारी जातिका संगठन करके उसे एक बना लिया और पंजाब तथा अफगानिस्तानपर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। फिर कालान्तरमें शकोंने सौराष्ट्र, मालवा, मथुरा, तक्षशिला आदि देशोंमें भी अपना आधिपत्य जमा लिया था। शक राजा मोआका उल्लेख ऊपर किया जाचुका है। उसका उत्तराधिकारी एजेस (Azes I) प्रथम था किन्तु उसके विषयमें कुछ अधिक वर्णन नहीं मिलता है; यद्यपि इसमें संशय नहीं कि उसका राज्य दीर्घ और समृद्धिशाली था।

१–मिलिन्द० १०८. २–राई० पृ० ३९८. ३–हिस्ट्री० पृ० ७८. ४–भाइ० पृ० ७८.

संभवतः अजेसके पराक्रमसे ही शक राज्यका आधिपत्य तमाम उत्तर पश्चिमीय भारतमें जमना नदी तक स्थापित होगया था। उसने 'क्षत्रप' नियत करके पारस्य देशकी राजनीतिकी तरह अपना शासन व्यवस्थित किया था। उसके सिक्कों-

महाराज अजेसके समयमें जैनधर्म।

पर 'महरजस रजरजस महातस अयस' अथवा 'महरजस रजदिरजस महतस अयस' या 'महरजस महतस ध्रमिकस रजदिरजस अयस' लेख मिलते हैं।[२] महाराजा अजेसके समय (ई० पूर्व प्रथम शताब्दि) में तक्षशिलामें जैनधर्म उन्नतिपर था। उस समयके बने हुए कई जैन स्तूप वहां आज भी भग्नावशेष हैं। एक स्तूपके भीतरसे महाराजा अजेसके आठ तांबेके सिक्के, और एक छोटीसी सोनेकी डिबिया जिसमें अस्थि-अंश स्वर्णके टुकडे और हाथीदांत एवं पाषाण मणिकायें रक्खे हुये थे, निकले थे। इन स्तूपोंकी बनावट ठीक मथुराके जैन स्तूपकी बनावटके समान हैं। इन्हीं स्तूपोंके पासवाली इमारतोंमेंसे एक लेख अरेमिक (Aramaic) भाषाका ईसवीसनसे पूर्वका निकला है। भारतमें इस लिपि और इस भाषाका यही एक लेख है। हतभाग्यसे यह अभीतक ठीक २ पढ़ा नहीं गया है। डॉ० बार्नेट और प्रो० कौली इसमें एक हाथीदांतके महलके बनवानेका उल्लेख हुआ बतलाते हैं।[३] किन्तु एक धार्मिकस्थान-स्तूपके निकट महलका बनना कुछ ठीक नहीं जंचता! संभवतः यह महल 'जिन-प्रसाद' अर्थात् जैन मंदिरका द्योतक होगा।

१-तक्ष० पृ० १३. २-भाप्रारा० भा० २ पृ० १९६. ३-तक्ष० पृ० ७६-८०.

कालकाचार्य।

शक लोग जैन-धर्मके प्रति सद्भाव रखते थे, यह बात श्वेतांम्बर जैन ग्रन्थोंके 'कालकाचार्य कथानक' से भी स्पष्ट है।[1] कालकाचार्यके समयमें उज्जैनका राजा गर्दभिल्ल था। उसने अपनी विषयलम्पटताके वश हो. कालकाचार्यकी बहिन आर्यिका सरस्वतीको बलात्कार अपनी स्त्री बनालिया। कालाचार्यको राजाका यह अन्याय और पापकृत्य असह्य होगया। उन्होंने अन्यायका विच्छेद करनेके लिये शाकदेश (सैस्तन Soistan) की ओर प्रयाण किया और वहांके शकराजाओंसे मैत्री करली। शकोंके राजा 'साहाणुसाहि' ने उन्हें राजद्रोहके अपराधमें दण्ड देना चाहा। उन शकोंने कालकाचार्यका कहना माना और इ० पू० १२३ के लगभग ९६ शाही (शक) कुल सिन्धु नदीको पार करके सौराष्ट्रमें आजमे। उनमेंसे एक उनका राजा होगया। कालकने उसे उज्जैनीपर आक्रमण करनेके लिये उत्साहित किया। शकराजाने कालकाचार्यके आग्रहसे उज्जैनीपर ई० पू० १००में हमला किया। गर्दभिल्लके पापका घड़ा भर गया था। वह शक सेनाके सामने टिक न सका। मैदान छोड़कर भाग गया। फलतः शकराजा उज्जैन अथवा मालवाके शासनाधिकारी हुये। कालकाचार्यका उन्होंने आदर किया। आर्यिका सरस्वतीकी भी मुक्ति होगई। वह प्रायश्चित्त ग्रहण कर पुनः ध्यान लीन होगई। विद्वान् लोग इस कथानकको सच्चा मानते हैं।[2] उस समय अर्थात् ईसवी पूर्व

१–प्रभावक चरित्र (१९०९ बम्बई) पृ० ३६–४६ व जविओसो० भा० १६ पृ० २९०. २–कैहि इ० पृ० १६७-८ व ५३२-३; अलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज भा० २ पृ० १४८ जविओसो० भा० १६.

प्रथम शताब्दिमें भारतीय शकराजा 'शाउनानुशाउ' नामक उपाधि ग्रहण करते थे; यह बात इतिहाससिद्ध है। अतः कालक कथानकसे भी 'जैन धर्मके प्रति शक लोगोंकी सहानुभूति' होना प्रकट है। इन शकोंका राज्य ई० पूर्व १००से ५८ तक उत्तर व पश्चिमी भारतमें रहा था।

सम्राट् कनिष्क।

कुशनवंशमें कनिष्क सबसे प्रतापी राजा था। उसने अपने पराक्रमसे चीन आदि कई देशोंको जीता और साम्राज्यका विस्तार बढ़ाया था। वह सन् ७८ ई० में राजसिंहासनपर आरूढ़ हुआ और उसका अधिकांश समय युद्ध करनेमें बीता था। पेशावर (पुरुषपुर) उसकी राजधानी थी। वहींसे वह अपने सारे राज्यका प्रबन्ध करता था; जिसमें पश्चिममें फारस तकका कुछ हिस्सा और पूर्वमें समस्त उत्तरीय भारत पाटलिपुत्र तक सम्मिलित था।[1] कहते हैं कि गद्दीपर बैठनेके कुछ दिनों बाद कनिष्कने बौद्ध धर्म धारण किया था। उसके राज्यकालमें बौद्ध संघकी एक सभा हुई थी; जिसके निर्णयके अनुसार उत्तरीय भारतके बौद्ध लोग महायान-सम्प्रदायवाले कहलाने लगे थे और दक्षिण 'हीनयान' सम्प्रदायके नामसे प्रसिद्ध हुए थे। कनिष्कने बौद्ध धर्मका खूब प्रचार किया था। उसके समयमें भारतीय व्यापारकी भी खूब वृद्धि हुई थी। कनिष्क विद्याव्यसनी था और उसने कई इमारतें बनवाई थीं। तक्षशिलाके निकट उसने एक राजधानी बनवाई थी। वह आज सरसुख टीलेके नीचे दबी पड़ी है। यमुनाके किनारे मथुराके निकट भी उसने बहुतसी

१–भाइ० पृ० ७९–८१.

इमारतें बनाई थीं। मथुराके पाससे कनिष्ककी एक सुंदर मूर्ति निकली है। कनिष्कका राजवैद्य आयुर्वेदका प्रसिद्ध विद्वान चरक था।[1]

विदेशी आक्रमणोंका प्रभाव।

यद्यपि भारतमें यूनानियों और शकोंका राज्य रहा था और वे लोग यहांपर बस भी गये थे; परन्तु उनकी यूनानी या रोमन सभ्यताका प्रभाव भारतपर प्रायः नहींके बराबर पड़ा था। विद्वान् कहते हैं कि बौद्ध धर्मपर अवश्य उसका कुछ प्रभाव पड़ा था। किन्तु ब्राह्मण और जैन धर्मोपर उसका असर कुछ भी नहीं पड़ा था। यूनानी भाषा कभी भारतमें लोकप्रिय नहीं हुई और न भारतियोंने यूनानियोंके वेषभूषा और रहन सहनको ही अपनाया था। हां, भारतकी स्थापत्य, आलेख्य और तक्षण विद्यापर उसका किंचित् प्रभाव पड़ा था, परन्तु वह नहींके बराबर था। सचमुच उस समयके भारतीयोंके लिये यह बात बड़े गौरवकी है कि उन्होंने अपनी प्राचीन आर्य संस्कृति और सभ्यताको अक्षुण्ण रक्खा। विदेशियोंके सम्पर्कमें रहते हुये भी वह उनके द्वारा तनिक भी प्रभावित नहीं हुये। प्रत्युत उन्होंने अपनी संस्कृति और धर्मका ऐसा प्रभावशाली असर उन लोगोंपर डाला कि वे उसपर मुग्ध होगये और उनमेंसे अधिकांशने ब्राह्मण, बौद्ध अथवा जैनमतको ग्रहण कर लिया और धीरे २ वह सब मिल जुलकर हिन्दू जनतामें एकमेक होगये।[2]

कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों—हुविष्क और वासुदेवके

१–लाभाइ०, पृ० १९७–२०४। २–अहिइ० पृ० ४२९ व लाभाइ० पृ० २०३।

कुशन साम्राज्यमें जैन धर्मका उत्कर्ष।

राजकालमें जैन धर्मकी उन्नति विशेष हुई थी। मथुरा उस समय जैनधर्मका मुख्य केन्द्र था। वहां पर भगवान पार्श्वनाथजी (ई० पू० ९ वीं शताब्दि) के समयका एक जैन स्तूप विद्यमान था। और भी कई स्तूप और जैन मंदिर थे[2]। मथुराके भग्नावशेषोंपर ई० पू० सन् १५० से सन् १०२३ ई० तकके शिलालेख मिले हैं; किन्तु यह भी विदित है कि ई० पू० सन् १५० से भी पहलेका एक जैन मंदिर मथुरामें था; जिसकी वस्तुओंको नये मंदिरोंके काममें लाया गया था। ऐसा मालूम होता है कि जैनियोंका उत्कर्ष वहांपर ईसवी सोलहवीं शताब्दितक रहा था। उपरांत मुसलमानों द्वारा जैनोंका यह तीर्थ और उसके दर्शनीय प्राचीन स्थान नष्ट करडाले गये। यहांकी कारीगरी बड़ी मनमोहक और सुन्दर है।

इन धर्मायतनोंको राजा और रंक सबने बनवाकर पुन्य संचय किया था। जहां एक ओर कौशिक क्षत्रियों द्वारा निर्मित आयागपटका उल्लेख मिलता है वहां दूसरी ओर नृतक एवं गणिकाओं द्वारा बनवाये गये आयागपट और जैन मंदिर मिलते हैं। इनमें प्रोष्टल और साक्य क्षत्रियोंके लिये कालरूप गोतिपुत्रका नाम उल्लेखनीय है। इनकी पुत्री कौशिक वंशकी शिवमित्रा नामक थीं: जिन्होंने जैन मंदिरमें एक आयागपट निर्मित कराया था। इसी प्रकार हारिती पुत्र पालकी स्त्री कौत्सी अमोहनीने अर्हत पूजाके लिये आर्यवती

१–भहिइ० पृ० ३१८ व कहिइ० पृ० १६७. २–जैस्तूप० पृ० १३. ३–वीर वर्ष ४ पृ० २९७. ४–एइं० भा० १ पृ० ३९४–३९६.

बनवाई थी। इनके अतिरिक्त भग्नावशेषोंमें अङ्कित चित्रों जैसे—राजछत्र लगाये किसी राजाको जैन साधुका उपदेश देना, नागकुमारों (शकों) का विनीत भावसे उपदेश श्रवण करना अथवा पूजा करना इत्यादिसे जनताके साधारण और विशेष मनुष्यों तथा विदेशियोंके मध्य जैन धर्मकी मान्यता होनेका परिचय मिलता है[1]। "जम्बूकुमार चरित" से वहां पांचसौसे अधिक स्तूपोंका होना प्रगट है।[2]

जैनधर्मका विशालरूप। उस समय भी जैनधर्म अपने विशाल रूपको धारण किये हुये था। जिन विदेशियोंको घृणाकी दृष्टिसे हिन्दू लोग देखते थे, उनको बौद्ध और जैनाचार्योंने अपने २ मतमें दीक्षित किया था। उपरान्त इन दोनों धर्मोंकी देखादेखी ब्राह्मणोंने भी अपने मतका प्रचार इन विदेशियोंमें किया था। जैन शास्त्रोंमें सर्व प्रकारके मनुष्योंके लिये धर्म साधन करनेका विधान मौजूद है। म्लेच्छ भी यथावसर आर्य होजाता है और वह मुनि होकर मोक्ष लाभ करता है।[3] मथुराके पुरातत्वसे जैनधर्मकी इस विशालताका पता चलता है। विदेशी शक आदि लोग जैनधर्मयुक्त हुए थे और नट, वेश्या आदि जातियोंके लोग भी अर्हत भगवानकी पूजाके लिये जिनमंदिर आदि निर्मित कराकर धर्मोपार्जन करते थे। इन मंदिरादि विविध व्यक्तियोंका दान कहा गया है।[4]

१–विशेषके लिये देखो "वीर" वर्ष ४ पृ० २९४–३११. २–अनेकान्त १ पृ० १४०. ३–लब्धिसार गाथा १९५ वेंकी टीका पृ० २४१ व विशाल जैन संघ नामक हमारा ट्रेक्ट देखो। ४ वीर वर्ष ४ पृ० ३११.

यह भी मालूम होता है कि तबतक विवाह क्षेत्रकी विशाल-तामें भी कोई संकोच नहीं हुआ था। वणिक सिंहकका विवाह एक कौशिक वंशीय क्षत्राणीसे हुआ था। अबतक वैश्य जातिकी उप-जातियोंका प्रचार नहीं था और लोग चार वर्णोंकी अपेक्षा ही एक दूसरेका उल्लेख करते थे। किन्तु इस पुरातत्वसे उस समय अर्थात् ई० पू० प्रथम शताब्दिसे ई० दूसरी शताब्दि तक जैन संघमें जो उथल-पुथल मची हुई थी, उसका खासा परिचय होता है। इसका विशेष वर्णन दिगम्बर और श्वेतांबर भेदका जिकर करते हुये आगे किया जायगा। 'दिगम्बर' अपनेको प्राचीन 'निर्ग्रन्थ' नामसे संबोधित करते थे।

छत्रप राजवंश।

पहले कहा जाचुका है कि इन्डो वैक्ट्रियन राजाओंने प्रांत प्रांतमें छत्रप नियत करके शासन प्रबन्ध किया था। कुशन कालमें यह छत्रप लोग उत्तर पश्चिमी भारतके कुशन राजाके सूबेदार थे। किन्तु अन्तमें इनका प्रभाव इतना बढ़ा कि मालवा, गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, सिंध, उत्तर कोंकण और राजपूतानेके मेवाड़, मारवाड़, सिरोही, झालावाड़, कोटा, परतापगढ़, किशनगढ़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और अजमेर तक इनका अधिकार होगया। ई० पू० पहली शताब्दिसे ई० चौथी शताब्दि तक भारतमें छत्रपोंके तीन मुख्य राज्य थे; दो उत्तरी और एक पश्चिमी भारतमें। तक्ष-शिला अर्थात् उत्तर पश्चिमी पंजाब और मथुराके छत्रप 'उत्तरी छत्रप' तथा पश्चिमी भारतके छत्रप 'पश्चिमी छत्रप' कहलाते थे। यह मूलमें

१—वीर वर्ष ४ पृ० ३०१.

शक जातिके थे और पहले पहल बिवाह सम्बन्ध केवल अपनी जातिमें करते थे । किंतु उपरांत यह लोग जैन और बौद्ध धर्ममें दीक्षित होगये थे । वैदिक धर्मको भी इन लोगोंने अपनाया था । क्षत्रियोंके साथ इनका वैवाहिक सम्बन्ध भी होने लगा था ।

छत्रप नहपान ।

छत्रप वंशमें नहपान नामका राजा बहुत प्रसिद्ध था । उसका समय ई० पूर्व प्रथम शताब्दिसे ईस्वी प्रथम शताब्दि तक विद्वान् अनुमान करते हैं । उसकी 'राजा' और 'महाछत्रप' उपाधियां थीं; जो उसे एक स्वाधीन राजा प्रगट करती हैं । नहपानका राज्य गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मालवा, नासिक आदि देशोंपर था । उसका जमाता ऋषभदत्त उसका सेनापति था । नहपान भूमकका उत्तराधिकारी[2] था । इस भूमकके सिक्कोंमें एक ओर सिंह व धर्मचक्र तथा ब्राह्मी अक्षरोंका लेख अङ्कित मिलता है । यह चिह्न जैनत्वके द्योतक हैं । भूमकके दरबारकी भाषा भी प्राकृत थी । नहपान निस्सन्देह जैन धर्मानुयायी था । दिगम्बर और श्वेतांबर दोनों ही जैन सम्प्रदायोंके शास्त्रोंमें उसका वर्णन मिलता है । श्री जिनसेनाचार्यने उसका उल्लेख 'नरवाह' नामसे किया है और उसका राज्यकाल ४२ वर्ष लिखा है; जो ई० पूर्व ५८ तक अनुमान किया जाता है[3] । जैन शास्त्रोंमें नहपानका उल्लेख 'नरवाहन' 'नरसेन' 'नहवाण' आदि रूपमें हुआ मिलता है । नहपानका एक विरुद 'भट्टारक' था ।

१–भाप्रारा० भा० १ पृ० २–३. २–भाप्रारा० भा० १ पृ० १२–१३. ३–जविओसो० भा० १६ पृ० २८९ ४–राइ० भा० १ पृ० १०३.

यह शब्द जैनोंमें विशेष रूढ़ है। उसके जमाताका नाम ऋषभदत्त बिल्कुल एक जैन नाम है। इन सब बातोंको देखते हुए इन शकोंको जैन धर्मभुक्त मानना अनुचित नहीं है। नहपान निस्सन्देह जैन शास्त्रोंका नरवाहन है। आधुनिक विद्वान भी इस व्याख्याको स्वीकार करते हैं [२]। इस अवस्थामें नहपानको जैन शास्त्रानुसार जैनी मानलेना ठीक है।

नहपान व जैनशास्त्र। श्वेतांबर जैन शास्त्र 'श्री आवश्यक सूत्र भाष्य' से प्रगट है कि "भृगुकच्छमें नहवाण (संस्कृतरूप नरवाहन) नामक राजा राज्य करता था। उसके पास अखूट धन-कोष था। उसके साथ ही प्रतिष्ठानपुर (वर्तमान पैठन) में एक सालिवाहन नामका राजा था, जिसकी सेना अजेय थी। शालिवाहनने नहवाणकी राजधानीको

1-Rishabhadatta is purely a Jaina mame: 'given by Rishabha (The Tirthankara)' —*JBORS XVI 250.*

2-"I need hardly say that Nahavana stands for Nahapana." —*M M. K. P. Jayswal., JABORS XVI.*

पं० नाथूरामजी प्रेमी भी 'नहवाण' को 'नहपान' बताते हैं। जैहि० भा० १३ पृ० ५३४.

३–'भरुयच्छे णयरे नहवाहणो राया कोससमिद्धो' आवश्यक सूत्रभाष्य। इसका संस्कृत रूप अभिधान राजेन्द्रकोपमें (भा० ५ पृ० ३८३) में यों दिया है: 'भरुकच्छपुरेऽत्राऽऽसीद् भूपतिर्नरवाहनः।' तपागच्छकी एक प्राकृत पट्टावलीमें नाहवाहणका उल्लेख 'नहवाण' रूपमें हुआ है। इसीलिये हमने नहवाण लिखा है। (जैसा सं० भा० १ अंक ४ पृ० २११) जायसवालजीने भी यही शब्द प्रयुक्त किया है। (जबिओसो०, १६ पृ० २८३).

आ घेरा; किंतु धनबलके समक्ष उसकी दाल न गली। वह दो वर्ष तक भृगुकच्छका घेरा डालकर हताश पैठणको वापस चला गया। सालिवाहनका मंत्री नहवाणके यहां आरहा; उसने नहवाणका धन धर्मकार्यमें खूब व्यय कराया। अनेक धर्मस्थान बनवाये और खूब दान-पुण्य किया। सालिवाहनने भृगुकच्छपर फिर आक्रमण किया और अबकी उसकी मनचेती हुई। निर्द्रव्य नहवाण उसके सामने टिक न सका। इस संग्राममें उसका सर्वथा नाश होगया। आवश्यक सूत्र भाष्यकी इस कथाको मम० श्री काशीप्रसादजी जायसवाल स्थूल रूपमें वास्तविक और तथ्यपूर्ण मानते हैं[1]। वह नहवाण (नरवाहन) को क्षत्रप नहवान और सालिवाहनको आन्ध्रवंशीय गौतमी पुत्र शातकर्णी सिद्ध करते हैं, जिसकी राजधानी पैठण थी। नहपानके सेनापति ऋषभदत्त द्वारा लिखाये गये नासिकवाले शिलालेखमें भृगुकच्छ, दशपुर, गोवर्धन और सुरपारक नामक नगरोंमें धर्मस्थानोंको बनवानेका भी उल्लेख[2] है।

'गर्गसंहिता' से शकोंका अति लालची होना प्रगट[3] है।

नहपान ही भूतवली आचार्य हुआ था।

जायसवालजी गौतमी पुत्र शातकर्णीको ही प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य सिद्ध करते हैं; जिन्होंने ई० पूर्व ५८ में शकोंको परास्त

१–'सो विणट्ठो, नट्ठं नयरंपि गहियं' (संस्कृत='निर्द्रव्यत्वान्ननाशः') इस पदसे नरवाहनकी मृत्यु हुई कहना ठीक नहीं जंचता। बल्कि नरवाहनके राजत्वका नाश हुआ मानना ठीक है। यह कथा 'जविओसो' भा० १६ पृ० २८३–२९४ से उद्धृत की गई है।

2–Ep. Ind. VIII p. 78. ३–जविओसो० १६ पृ० २८४.

किया था। उक्त संग्राम इस घटनाका ही द्योतक है। उधर दिगम्बर जैन शास्त्र 'श्रुतावतार' में भी एक नरवाहन राजाका उल्लेख है[२]। इसके विषयमें वहां कथन है कि 'वह वांमि देशकी वसुन्धरा नगरीका राजा था। उसकी सुरूपा नामक रानीके कोई पुत्र नहीं था, जिसके कारण वह दुःखी रहती थी। राजश्रेष्ठी सुबुद्धिके कहनेसे नरवाहनने पद्मावती देवीकी पूजाकी और पुण्योदयसे उसके एक पुत्र हुआ। उसका नाम पद्म रक्खा गया। नरवाहनने इस हर्ष घटनाके उपलक्षमें सहस्रकूट एवं अन्य अनेक जिन मंदिर बनवाये। धर्म प्रभावनाके लिये रथयात्रायें निकलवाई। कालांतरमें नरवाहनके राजनगरमें एक जैन संघ आया; जिसमें उसका मित्र मगधका राजा मुनि था। उसके उपदेशसे नरवाहन मुनि होगये। सुबुद्धि श्रेष्ठी भी मुनि होगया। ये ही दोनों मुनि गिरिनगर (जूनागढ़) धरसेनाचार्यके निकट आगम शास्त्रकी व्याख्या सुननेके लिये गये थे। उसे सुनलेनेके पश्चात् उन्होंने अंकलेश्वरपुर (भड़ोच—भृगुकच्छ) में षट्खण्डागम शास्त्रकी रचना की थी। ये क्रमशः भूतबलि और पुष्पदन्त नामसे प्रसिद्ध हुए थे"। यह कथा उक्त श्वेतांबर कथासे नितांत

१–जविओसो० १६ पृ० २८१–२८२. २–सिद्धांतसारादिसंग्रह (मा० ग्रं०) पृ० ३१६–३१८. ३–'गिरिनगरसमीपे गुहावासी धरसेन-मुनीश्वरोऽग्रायणीपूर्व्वस्य यः पंचमवस्तुकस्तस्य तुर्य्यप्राभृतस्य शास्त्रस्य व्याख्यानप्रारंभ करिष्यति।..........भूतबलिर्नाम नरवाहनो मुनिर्भविष्यति..........सद्बुद्धिः पुष्पदंतनामा मुनिर्भविष्यति।.......... तन्मुनिद्वयं अंकलेसुरपुरे गत्वा मत्वा षडंगरचनां कृत्वा शास्त्रेषु लिखाप्य....इत्यादि।" —विबुधश्रीधरकृतः श्रुतावतार।

विलक्षण है । किन्तु देश, नगर व राजाके नाम इस कथाका लीला क्षेत्र भृगुकच्छके आसपास ही प्रगट करते हैं । देशका ' वांमि ' नाम अनोखा है । यह शब्द संभवतः नागोंके वास बामीका द्योतक है; जिससे भाव उस प्रदेशके होसकते हैं कि जिसमें नागलोक रहते हों । सिंध-कच्छवर्ती देशको यूनानियोंने नागोंके कारण पाताल नाम दिया भी था। नाग लोगोंके मूल स्थान रसातल (मध्य एशिया) के दो भागोंमें शक लोग रहते थे ।[१] इसी कारण भृगुकच्छके आसपासके देशको नागों-शकादिके वासस्थान रूपमें दिगंबराचार्य 'वांमी' नामसे उल्लिखित करते हैं । निस्सन्देह वह भृगुकच्छवर्ती देश होना चाहिये; क्योंकि गिरिनगर-अंकलेश्वर आदि नगर उसीके पास हैं। 'गर्गसंहिता'में [२]नहपानकी राजधानीका उल्लेख ' पुर ' रूपमें हुआ है; जिससे स्पष्ट है कि वह एक प्रसिद्ध और समृद्धिशाली नगर था।

वस्तुतः प्राचीन कालमें भृगुकच्छकी ऐसी ही स्थिति रहती थी[३] । इस अवस्थामें उसका उल्लेख वसुंधरा रूपमें करना अनुचित नहीं है। उक्त श्वेतांबर कथा नहवाण (नहपान)का सम्पूर्ण चरित्र प्रगट करनेके लिये नहीं लिखी गई है, बल्कि माया शल्यके द्रव्यप्रणिधि भेदके उदाहरण रूपमें उसका उल्लेख किया गया है[४] । वैसे ही 'श्रुतावतार' में भी दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थके लिखे जानेकी घट-

१-इंहिक्वा०, भा० १ पृ० ४९९. २-जविओसो०, २४।४०८. 'स्वकं पुरं' ।- ३-भृगुकच्छ बौद्धकालसे एक प्रसिद्ध बन्दरगाह और लाट देशकी राजधानी रहा है। बंप्राजैस्मा०, पृ० २०. ४-'मायायाम्' सा च द्विधा-द्रव्यप्रणिधिः भावप्रणिधिश्च । तत्र द्रव्यप्रणिधौ उदाहरणम्....अभिधानराजेन्द्रकोष, जविओसो, भा० १६ पृ० २९१.

नाको व्यक्त करनेके लिये नह्वाण (नरवाहण) का आंशिक वर्णन है। उससे भी नहवाण (नरवाहण) द्वारा धर्मस्थानके बनने व दान पुण्य करनेका समर्थन होता है। संभवतः नरवाहण राज्यच्युत होने-पर दिगम्बर मुनि होगया था। राजभ्रष्ट होनेपर वह करता भी क्या? जब कि उसको वैराग्यका साधन मिलरहा था। इतिहाससे यह भी प्रगट है कि लियक (Liaka) नामक एक व्यक्ति संभवतः नह-पानका पुत्र था, जिसने उत्तर[१] भारतमें जाकर तक्षिलामें ई० पू० ७५ में अपना राज्य जमाया था। श्रुतावतार कथा नरवाहन (नह-वाण) की ढलती उमरमें एक पुत्रका होना प्रगट करती है; क्योंकि अधिक वयतक जब नरवाहणके पुत्र नहीं हुआ तब ही उसने उक्त प्रकार पद्मावतीदेवीकी पूजा की प्रतीत होती है। मालूम होता है कि नहवाण (नरवाहन) राजाके जीवनकी वास्तविक घटनाओं अर्थात् उसको शकजातिका प्रसिद्ध नरवाहन (नहवाण) कहना, धर्मकार्यमें द्रव्य व्यय करना, अति धनवान होना, उसकी अधिक उमरमें एक पुत्र होना आदि—को लेकर 'श्रुतावतार' के लेखक विबुध श्रीधरने उस कथाको अपने ढंगपर लिखा है और यह बतला दिया है कि नर-वाहन (नहवाण) ही भूतबलि मुनि हुये थे।

इन सब बातोंको देखते हुये, 'श्रुतावतार' के नरवाहन और 'आवश्यक सूत्रभाष्य' के नहवाण, जिसका संस्कृत रूप वहां भी नरवाहन ही है, इतिहास—प्रसिद्ध छत्रप नहपान मानना अनुचित नहीं है, अतः कहना होगा कि दि० जैन श्रुतका उद्धार शक नहपान द्वारा हुआ था!

१—जबिओसो० भा० १६ पृष्ठ २५०.

छत्रप रुद्रसिंह जैनी। छत्रपवंशमें नहपानके अतिरिक्त उपरांत छत्रप रुद्रदामनके पुत्र रुद्रसिंह जैनी होना संभव है। उसने सन् १८०से १९६ ई०तक राज्य किया था। उसका एक लेख चैत्र शुक्ला पंचमीका लिखा हुआ भग्न दशामें जूनागढ़से मिला है; जिसमें "केवलज्ञानसंप्रासाणां" पद मिलता है। इस पदके कारण, क्योंकि 'केवलज्ञान' जैनोंका एक पारिभाषिक शब्द है, बुल्हर आदि विद्वान् रुद्रसिंहको जैन धर्मानुयायी प्रगट करते हैं[1]। जूनागढ़का 'बावा प्याराका मठ' और अपरकोटकी गुफाओंको भी विद्वान् जैनोंकी बताते हैं।[2] श्रुतावतारसे गिरिनगर (जूनागढ़) के निकट स्थित गुफाओंमें दि० जैन मुनियोंका होना सिद्ध है[3]। इन इमारतोंको छत्रप रुद्रसिंहने ही संभवतः बनवाया था।

शक-सम्वत्। शक संवत्के विषयमें कोई निश्चित मत नहीं है। फर्गुसनने उसे कनिष्कका चलाया हुआ अनुमान किया है।[4] किन्तु आज उस मतके विरुद्ध अनेक प्रमाण मिलते हैं। पण्डित भगवनलाल और जैक्सन सा० इस संवतको नहपान द्वारा गुजरात विजयकी स्मृतिमें

१-आर्केलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट ऑफ वेस्टर्न इन्डिया, भा० २ पृ० १४०. २-इंऐ०, भा० २० पृ० ३६३....३-'श्रुतावतार' में धरसेनाचार्यको गिरिनगरके निकटकी गुफाका निवासी लिखा है। (गिरिनगरसमीपे गुहावासी धरसेनमुनीश्वरो) और गिरिनगर जूनागढ़का प्राचीन नाम है। (देखो कजाइ० पृष्ठ ६९८). ४-इंऐ०, भा० २० पृ० ३६४. ५-माप्रारा० भा० १ पृ० ३.

चला मानते हैं।[1] डॉ० फ्लीट भी इस मतसे सहमत थे।[2] कनिंघम और डुब्रुयल चष्टनको शक संवतका चलानेवाला प्रगट करते हैं।[3] सर जॉन मारशल अजस प्रथम (Ages I) द्वारा उसका चलना अनुमान करते हैं।[4] किन्तु विद्वानोंने इन मतोंको निस्सार प्रगट कर दिया है। यद्यपि वे सब उसे सन् ७८ ई०से चला माननेमें एक मत हैं।[5] उधर भारतीय पण्डितोंका पुरातन मन्तव्य शक संवत्के विषयमें यह रहा है कि प्रतिष्ठानपुरके राजा शालिवाहन (=सातवाहन) ने शकोंको परास्त करके इस संवतको चलाया था। जिनप्रभसूरिने 'कल्पप्रदीप' में लिखा है कि राजा शालिवाहनने शक संवत चलाया था। सातवाहन या शातिकर्णी उपाधिधारी राजा दक्षिण पैठनके आन्ध्रवंशमें हुये हैं, जिसका राज्यकाल ई० पूर्व पहली शताब्दिसे ईस्वी तीसरी शताब्दितक रहा था। कतिपय विद्वान् इस वंशके हाल नामक राजाको शकसंवतका प्रवर्तक शालिवाहन प्रगट करते हैं; क्योंकि हाल और शाल शब्द समवाची हैं।[7] किन्तु मम० काशीप्रसादजी जायसवाल कुन्तल शातकर्णीको शक शालिवाहन संवतका प्रवर्तक सिद्ध करते हैं।[8] वह बतलाते हैं कि शक नामके दो संवत थे। प्राचीन शक संवतका सम्बन्ध शकोंसे था। वह लगभग

१—बंबई गेजेटियर भा० १ खंड १ पृ० २८. २—जराएसो०, १९१३ पृ० ९२२. ३—क्वाइन्स ऑफ इंडिया पृ० १०४ व इंए० १९२३ पृ० ८२. ४—जमीसो० भा० १८ पृ० ७०. ५—जमीसो० भा० १७ पृ० ३३४. ६—भाप्रारा० भा० १ पृ० ३ व जमीसो०, भा० १७ पृ० ३३४-३३५. ७—जमीसो०, भा० १७ पृ० ३३४-३३७. ८—जबिओसो०, भा० १६ पृ० २९५-३००.

१२० ई० पूर्वसे आरम्भ हुआ था। राजा कुशान और उविमकब्थिसके लेखोंमें यही संवत मिलता है।[1]

दूसरा ऐतिहासिक शक संवत सन् ७८ से कुन्तल शातकर्णी द्वारा शकोंपर एक वार फिर विजय प्राप्त करनेके उपलक्षमें चला था। किन्तु जायसवालजी जैन शास्त्रोंके इस उल्लेखसे कि वीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने पश्चात शक राजा हुआ, सन् ७८ से शकोंद्वारा भी चला एक संवत मानते हैं।[2] किन्तु इस जैन उल्लेखमें एक शक राजाका होना लिखा है, न कि उसमें शक संवतके चलनेका उल्लेख है।[3] इस दशामें जैन गाथाओंके आधारसे एक

१–जविओसो० १६ पृ० २३०–२४२. २–जविओसो० भा० १६ पृ० ३००.

३–'णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु ।
पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ॥ ८९ ॥
—त्रिलोकप्रज्ञप्ति ।

'त्रिलोकसार' में इस गाथाको निम्नप्रकार लिखा गया है:—
'पणछस्सयवस्सं पणमास जुदं गमिय वीर णिव्वुइदो ।
सगराजो तो कक्की चदुनवतियमहिय सगमासं ॥ ८५० ॥
श्रीजिनसेनाचार्यने 'हरिवंशपुराण' में इसीको संस्कृतमें इसप्रकार लिखा है:—'वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रां मासपंचकं ।
मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत् ॥'

इन गाथाओंमेंसे किसीमें भी शक संवत्के चलने या उसके प्रवर्तकका उल्लेख नहीं है। एकमात्र यही कहा गया है कि वीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने पश्चात् शक राजा हुआ। अतएव इनसे शकोंद्वारा एक दूसरे संवत्के चलनेका पता नहीं चलता।

नये शक संवतका अस्तित्व बतलाना कुछ जीको नहीं लगता। दूसरा शकविजयके उपलक्षमें उसका चलना उपयुक्त है। दोनों ही विजय शातकर्णी वंशके राजाओं द्वारा भारतरक्षाकी महान विजय थीं: इसी कारण हिन्दू जनताने दोनों ही शकोंका उपयोग एकसाथ किया।

जैन गाथाओंका शकराजा नहपान।

हिंदू पण्डितोंमें विक्रम संवत्के साथ शक सालिवाहन संवत् लिखनेका एक रिवाज है और यह इस बातका प्रमाण है कि दोनों संवतोंका सम्बन्ध भारतीय राजाओंसे था न कि एक विदेशी राजासे भी। जैन गाथाओंका शकराजा इस अपेक्षा शक शालिवाहन संवत्के प्रवर्तकसे कोई भिन्न पुरुष होना चाहिये। वह भिन्न पुरुष नहपान था। यह बात हम प्रथम खण्ड (पृ० १६२) में लिख चुके हैं। त्रिलोकप्रज्ञप्तिके उल्लेखानुसार उसका समय वीरनिर्वाणसे ४६१ अथवा ६०५ वर्षबाद होना प्रमाणित है। यदि वीर नि०से ४६१ वर्ष बाद उसको मानाजाय तो उसके होनेका समय ई० पूर्व ८४ (५४५–४६१) आता है। प्राचीन शक संवत्में नहपानका समय गिननेसे वह ई० पूर्व ८२ के लगभग बैठता है[1]। इस दशामें 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' का उक्त मत तथ्यपूर्ण प्रतिभाषित होता है। किन्तु इस अवस्थामें नहपानका राज्यकाल जो ४२ वर्ष बताया जाता है, उसमें भूमकका राज्य काल भी सम्मिलित समझना चाहिये। इस मतकी सार्थकताको देखते हुए शक राजाको वीर नि० से ६०५ वर्ष बाद मानना ठीक नहीं दिखता। मालूम होता है कि सन् ७८ को शकोंके सम्बन्धसे

१–जविओसो० भा० १६ पृष्ठ २५०.

प्रसिद्ध हुआ जानकर जैनाचार्योंने उक्त मतका भी निरूपण कर दिया । यह भ्रम उपरोक्त दो शक--विजयोंके कारण हुआ प्रतीत होता है । अतः कहना होगा कि जैन गाथाओंका शक राजा नहपान है; जिसके द्वारा दिगंबर आगम लिपिबद्ध हुआ था ।

कुशन साम्राज्यका पतन ।

वासुदेवके समयमें कुशन-साम्राज्यकी दशा बिगड़ गई थी । अफगानिस्तान और मध्यएशियाके देश साम्राज्यसे अलग होगए थे। कहते हैं, इसी कालमें भारतमें बड़ी भारी महामारी फैली थी ।[1] जैन शास्त्रोंमें भी इस महामारीका उल्लेख मिलता है । मथुरामें इसका बहुप्रकोप हुआ बतलाया जाता है। यहां सात चारण ऋद्धिधारी ऋषियोंने आकर इस महा-रोगसे नगरको मुक्त किया था। जैन मंदिरोंमें आजतक इन महात्माओंकी पूजा होती है ।[2] इस समय मथुरामें जैन धर्मका अभ्युदय भी खूब हुआ था। कोई अनुमान करता है कि राजा वासुदेव भी जैन धर्मानुयायी होगया था।[3] अन्ततः इन विदेशी राजाओंको गुप्तवंशके क्षत्रियोंने पराजित किया था और उनकी जगह अपना राज्य स्थापित किया था। इस कालमें विद्या और ललितकलाकी खूब उन्नति हुई थी। कात्यायन और पातंजलिके भाष्य इसी कालमें रचे गये। व्याकरणका विकास हुआ, चरक द्वारा रसायन और वैद्यक शास्त्रकी अच्छी उन्नति हुई। जैनोंके वाङ्मयका उद्धार और वह लिपिबद्ध भी इसी कालमें हुआ। यूनानीयों और भारतीयोंका सम्पर्क भी खूब बढ़ा। भारतके

१-भाइ० पृ० ८३. २-सप्तऋषि पूजा देखो. ३-जैसिभा० भा० १ कि० ४ पृ० ११६-१२४.

ज्योतिषियोंने उनसे नक्षत्रोंकी स्थिति और चालके विषयमें बहुत कुछ आदान प्रदान किया! भारहुंत, सांची, अमरावती और मथुराके स्तूप तथा खंडगिरि-उदयगिरिकी गुफायें आदि इस समयकी उत्कृष्ट कलाके नमूने हैं। इस समय देशभरमें सर्वत्र बड़ी सुन्दर और विशाल इमारतें बनी थीं।

(२)

सम्राट् खारवेल।

(सन् २०७-१६० ई० पूर्व)

कलिङ्गका ऐल चेदिवंश।

कर्मभूमिकी आदिमें श्री ऋषभदेवजीने भारतको विविध प्रांतोंमें विभक्त किया था। तब उन्होंने वर्तमानके ओड़ीसा प्रांतका नाम 'कलिङ्ग' रक्खा था! कलिङ्गके प्रथम सम्राट् ऋषभदेवजीके पुत्रोंमेंसे एक थे। भगवान ऋषभदेवने कैवल्य प्राप्त करके जब देश भरमें सर्वत्र विहार किया था, तब उनका समवशरण कलिङ्ग देशमें भी पहुंचा था; जिसके कारण जैनधर्मका वहांपर काफी प्रचार हुआ था। तत्कालीन कलिङ्गाधिप जैन मुनि होगये थे[1]। और कलिङ्गका शासनभार उनके पुत्रने ग्रहण किया था। परिणामतः कलिङ्गमें कौशलका यह इक्ष्वाकु वंश एक दीर्घ कालतक राज्य करता रहा था। 'हरिवंश पुराण' के कथनसे प्रगट है कि उपरांत बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतनाथजीके तीर्थमें कौशलदेशमें हरिवंशी राजा दक्ष राज्य करता था। उसका पुत्र

१-हरि० ३।३-७ व ११।१४-७१.

ऐलेय और एक कन्या मनोहरी नामकी थी। राजा दक्षने अपनी कन्याको पत्नी बनानेका दुष्कर्म करडाला। ऐलेय और उसकी माता इला राजा दक्षसे रुष्ट होगये और कौशल देशको छोड़कर अन्यत्र चले गये। आखिर ऐलेयने ताम्रलिप्ति नगरको स्थापित किया और वह एक राजा बनगया। राजा ऐलेयने भारतको विजय किया और अन्तमें वह मुनि होगया। इन्हीं ऐलेयकी सन्ततिमें एक राजा अभिचन्द्र हुआ। जिसने विन्ध्याचलपर्वतके पृष्ठ भागमें चेदिराष्ट्रकी स्थापना की थी[1]। भ० अरिष्टनेमिके समय अर्थात् महाभारत कालमें हरीवंशी राजकुमार जरत्कुमार कलिङ्गराजके जमाई थे और द्वारिकाके साथ यदुवंशीयोंके नष्ट होनेपर जरत्कुमार कलिङ्गराजमें जाकर राज्य करने लगे थे[2]। फलतः कलिङ्ग हरिवंशी क्षत्रियोंके शासनमें आगया।

भ० महावीरके समयमें भी वहां हरिवंशी जितशत्रु नामके राजा राज्य करते थे। उनके पश्चात् कलिङ्गके राजवंशका पता जैन शास्त्रोंमें नहीं मिलता। किन्तु जैन पुराणके उक्त वर्णनका समर्थन कलिङ्गराज ऐल खारवेलके हाथीगुफावाले प्रसिद्ध लेखसे होता है; जिसमें उन्हें 'ऐल चेदिवंश' का लिखा है और उनके पूर्वपुरुषका नाम 'महामेघवाहन' प्रगट किया है।[3] विद्वानोंने इस चेदिवंशको दक्षिणकौशलसे कलिङ्गमें आया बतलाया है। वस्तुतः सन् २१३

१–हरि० ११।१–३–९ व जविओसो० भा० १३ पृ० २७७–२७९.

२–हरि० (कलकत्ता) पृ० ६२३.

३–'ऐलचेतिराजवसवधनेन'–जविओसो० भा० १३ पृष्ठ २२३.

4—'This branch of the Chedis seems to have migrated into Orissa from Mahakosala.' —*JBORS III 482*.

ई० पू० में कौशलपर 'मेघ' कुलके राजाओंका अधिकार था, जो बलवान और कुशाग्र-बुद्धि थे।[1] इन्हीं राजाओंमें मेघवाहन राजा थे। संभवतः दक्षिणकोशलसे आकर उन्होंने ही 'ऐल चेदिवंश' के राज्यकी जड़ कलिङ्गमें जमाई थी। 'ऐल' वह कौशलके प्रसिद्ध राजा ऐलसे सम्बन्धित होनेके कारण विद्वानों द्वारा अनुमान किया गया है।[2] उधर उपरोक्त प्रकार 'हरिवंशपुराण' में स्पष्टतः चेदिराष्ट्रकी स्थापना राजा ऐलेयकी सन्तति द्वारा हुई कही गई है। चेदिराष्ट्रके संस्थापक और शासक होनेके कारण ही उपरान्त ऐलेयकी हरिवंशी सन्तति 'चेदिवंश' के नामसे प्रसिद्ध होगई और उसने अपने महान साहसी और यशस्वी पूर्वज ऐलेयके नामको भुलाया नहीं। अतएव यह स्पष्ट है कि कलिङ्गका वह राजवंश जिसमें सम्राट् खारवेल हुये, कौशलके हरिवंशी राजा ऐलेय और दक्षिणकोशलके चेदिवंशसे सम्बन्धित था। 'हरिवंशपुराण' से उक्त प्रकार भ० महावीर अथवा उनके बाद तक हरिवंशका शासन कलिङ्गमें प्रमाणित है। हिन्दू शास्त्रमें भी जन्मेजय रामके उपरान्त सब ही क्षत्रियोंको कोशल ऐलका वंशज प्रगट * करते हैं और कलिङ्गवंशको 'महाभारतकाल' से चला आता बताते हैं।[3] उसका मगध सम्राट् नन्दवर्द्धन द्वारा अन्त हुआ था। कलिङ्गराज हतप्रभ होकर दक्षिणकोशलमें जारहे और उपरान्त मौर्य-साम्राज्यके पतन होनेपर उनके वंशजोंने अपना अधिकार फिरसे कलिङ्गमें जमा लिया!

१-जबिओसो०, भा० ३ पृ० ४८३-४८४. २-जबिओसं०, भा० ३ पृ० ४३४. * जबिओसो, भा० १६ पृ० १९०. ३-जबिओसो०, भा० ३ पृ० ४३५.

अतएव महामहोपाध्याय श्री काशीप्रसादजी जायसवालके शब्दोंमें यह स्पष्ट है कि कलिंगके सम्राट्

युवराज खारवेलका राज्याभिषेक!

'खारवेलके पूर्व पुरुषका नाम महामेघवाहन और वंशका नाम ऐल चेदिवंश था।'[1] मालूम होता है कि खारवेलके पिताका स्वर्गवास उस समय होगया था, जब वह लगभग सोलह वर्षके थे। प्राचीनकालमें सोलह वर्षकी अवस्थामें पुरुष बालिग हुआ समझा जाता था। खारवेल जब सोलह वर्षकी अवस्थामें बालिग होगये, तो वह युवराज पदपर आसीन होकर राज्यशासन करने लगे थे। उस समयतक उनका राज्याभिषेक नहीं हुआ था। प्राचीन कालमें राज्याभिषेक २५ वर्षकी अवस्थामें होता था। अतः जब पच्चीस वर्षके हुये तो उनका महाराज्य अभिषेक हुआ था और वह एक राजाकी तरह राज्यशासन करने लगे थे। जिस समय खारवेल राज्यसिंहासनपर आरूढ हुये उस समय उनका राज्य कलिङ्गभरमें विस्तृत था, जो वर्तमानका ओड़ीसा प्रांत जितना था। तब कलिङ्गकी प्रजाकी गणना भी खारवेलने कराई थी और वह ३५ लाख थी। जन समुदायकी गणना करानेका रिवाज मौर्योंके समय सुतरां उनसे पहलेसे प्रचलित प्रगट होता है। अशोकके समयसे ही कलिङ्गकी राजधानी तोसलि थी। खारवेलने भी अपनी राजधानी वहीं की थी। उन्होंने कोई नवीन राजधानी स्थापित की हो, यह मालूम नहीं देता। उनकी राजधानीका उल्लेख 'कलिङ्गनगरी' के नामसे हुआ है।

१–नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भा० १० पृ० ५०२.

खारवेल राज्यका प्रथम वर्ष।

राज्यसिंहासनपर आरूढ होनेके पहले वर्षमें खारवेलने अपनी राजधानीकी मरम्मत कराई थी; जिसके परकोटा, दरवाजे और इमारतें तूफानसे बरबाद होगये थे। इसके साथ ही उन्होंने खिबिर ऋषिके बड़े तालावका पक्का बांध बन्धवाया था। जिससे कि प्रजाको पानीकी तकलीफ न रहे और सिंचाईका काम भी बखूबी चल निकले। खारवेलने इसी समय कई राजोद्यान भी लगवाये थे; और अपनी पैंतीस लाख प्रजाकी मनस्तुष्टि की थी व विविध उपायों द्वारा उसको प्रसन्न किया था। सारांशतः राज्यसिंहासनपर बैठते ही उन्होंने अपने कार्योंसे यह विश्वास दिला दिया कि वह एक प्रजा-हितैषी राजा है।

खारवेलकी प्रथम दिग्विजय।

इस प्रकार अपने राज्यके प्रथम वर्षमें राजधानीका पुनरुद्धार और प्रजाको प्रसन्न करके खारवेलको अपना साम्राज्य दूर देशोंतक फैलानेकी सुध आई। यह भी किसी लालचसे नहीं; बल्कि धार्मिक भावसे। वह अपने लेखमें स्वयं कहते हैं कि उनकी देशविजयके साथ२ धार्मिक कार्य होते थे। उनका सबसे पहला आक्रमण पश्चिमीय भारतपर हुआ। उस समय वहांपर आन्ध्र अथवा सातवाहनवंशीय शातकर्णि प्रथमका शासनाधिकार था। उसका प्रभाव ओड़ीसाकी पश्चिमीय सीमातक व्याप्त था और दक्षिणमें भी उसका अधिकार था! खारवेलने उसके इस प्रतापकी ज़रा भी परवा नहीं की। संभवतः सन् १८२ अथवा १७१ ई० पृ० के लगभग उनने काश्यप क्षत्रियोंकी सहायताके लिये शातकर्णिपर आक्रमण कर

दिया। इस युद्धका परिणाम यह हुआ कि मुशिक क्षत्रियोंकी राजधानीपर खारवेलने अपना अधिकार जमा लिया। यह मुशिक क्षत्रिय कलिङ्गके निकट प्रदेशमें बसनेवाले दक्षिणी लोग माने गये हैं। काश्यप क्षत्री दक्षिण कौशलके निवासी थे और संभवतः खारवेलके सम्बन्धी थे।

राजधानीमें उत्सव। शातकर्णि और मुषिकोंसे निबटकर खारवेल अपनी विजयी चतुरंगिणी सेना सहित तोसलिको लौट आये और वहां आकर उन्होंने अपनी प्रजाके चित्त रञ्जनार्थ अनेक प्रकारके उत्सव किये थे। नाचरङ्ग, गाद्यवाद्य और प्रीतिभोज तथा समाज भी हुये थे। इन महोत्सवोंमें प्रजाके लिये युद्धका संताप भूल जाना स्वाभाविक था। अपने राज्यके चौथे वर्षमें खारवेलने 'विद्याधर आवास' का पुनरुद्धार किया प्रतीत होता है।

खारवेलका राष्ट्रिक और भोजकपर आक्रमण। इसी वर्ष खारवेलका दूसरा आक्रमण फिर पश्चिमीय भारतपर हुआ और अबकी उन्होंने राष्ट्रिक एवं भोजक क्षत्रियोंसे बढ़कर खेत लिया। ये दोनों राष्ट्र शातकर्णिके पड़ोसी अनुमान किये गये गये हैं। वे महाराष्ट्र और बरारमें रहते बताये हैं। भोजकोंका संभवतः प्रजातंत्र राज्य था। खारवेलने इन क्षत्रियोंके राजाओंके छत्र और भिरङ्गार छीनकर नष्ट करदिये थे और उनको बिलकुल पराजित कर दिया था। उनको मुकुट विहीन बना दिया था। और वह अपनी विजय वैजयन्ती फहराते हुए सानन्द कलिङ्गको लौट आये थे।

कलिङ्गमें वापस आकर खारवेलने फिर जन साधारणके हितकी सुध ली। उन्होंने तनसुतिय स्थानसे एक नहर निकलवाकर अपनी राजधानीको सरसब्ज बना लिया। प्रजाको भी इस नहरसे सिंचाईका बड़ा सुभीता हुआ। यह नहर उस समयसे तीनसौ वर्ष पहले नन्दराजाके समयमें बनवाई गई थी। उसीका पुनरुद्धार करके खारवेल उसे अपनी राजधानी तक बढ़ा लाये थे। अपने राज्यके छठे वर्षमें उन्होंने दुःखी प्राणियोंकी अनेक प्रकारसे सहायता की थी और पौर एवं जानपद संस्थाओंको अगणित अधिकार देकर प्रसन्न किया था।

तनसुतिय नहर व जनपद संस्था।

यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जासक्ता कि खारवेलका विवाह कब हुआ था, किन्तु यह स्पष्ट है कि उनके दो विवाह हुये थे। उनकी दोनों रानियोंके नाम शिलालेखमें मिलते हैं। एक वजिरघरवाली कही जाती थी और दूसरी सिंहपथकी सिंधुड़ा नामक थीं। वजिरघर अब मध्यप्रदेशका वैरागढ़ है। खारवेलके समयमें वहांके क्षत्री प्रसिद्ध थे। उन्हींकी राजकुमारीके साथ खारवेलका विवाह हुआ था। एक उड़िया काव्यमें इस घटनाका उल्लेख अनोखी कल्पनामें किया गया है, जिसमें राजकुमारीकी वीरताको खूब दर्शाया गया है। इन्हीं वजिरघरवाली रानीसे खारवेलको अपने राज्यके सातवें वर्षमें संभवतः एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई थी।

खारवेलकी रानियां व पुत्र लाभ।

उड़िया काव्यसे प्रगट है कि खारवेलने दक्षिण भारतको भी विजय किया था। खारवेलके शिलालेखमें

खारवेलका मगधपर आक्रमण ।

भी उल्लेख है कि उन्होंने पांड्य देशके राजाओंसे भेट प्राप्त की थी। अतएव यह कहना होगा कि खारवेलने दक्षिणापथ (दक्षिण भारत) पर अपना सिक्का ज़मा लिया था और उन्हें एक मात्र उत्तरापथ (उत्तर भारत) को विजय करना शेष रहा था। उस समय भारतवर्षके साम्राज्य-सिंहासनपर चढ़नेकी कामना चार आदमियोंको हुई थी। अर्थात् (१) मगधके शुंगवंशीय ब्राह्मण पुष्पमित्र, (२) आंध्रवंशी शातकर्णि प्रथम, (३) अफगानिस्तान और बाल्हीकका यवन राजा दमेत्रिय (Demeterioo) और (४) स्वयं खारवेल। इनमेंसे शातकर्णिको तो खारवेल परास्त कर चुके थे। बस, उनके लिये पुष्पमित्र और दमेत्रियसे बाजी लेना बाकी था। पुष्पमित्रने 'अश्वमेध' यज्ञ करके चक्रवर्तीपद पाया था! खारवेलके समान पराक्रमी और धर्मवत्सल राजाके लिये यह सहन करना सुगम नहीं था कि उनके जीतेजी एक अन्य राजा 'चक्रवर्ती' कहलाये और अश्वमेधादिमें पशु हिंसा करता रहे; जब कि मौर्यकालसे अहिंसा धर्मकी भारतमें प्रधानता रही हो।

अतएव खारवेलने मगधपर धावा बोल दिया। इसी समय दमेत्रिय पटनाको घेरे हुये था। और वह भारत-विजय करनेकी अपनी कामनामें प्रायः सिद्धार्थ होचुका था। किन्तु खारवेल ज्योंही झार-खंड-गयासे होते हुये मगध पहुंचे और राजगृह तथा गोरथगिरिके दुर्गोंमेंसे अंतिमको सर कर लिया कि दमेत्रिय खारवेलकी चढ़ाईका हाल सुनकर तथा अपने खास राज्यमें विद्रोहका उपद्रव उठते देख पटना, साकेत, पंचाल आदि छोड़ता हुआ मथुरा भागा और मध्य देश-

मात्र छोड़ वहांसे निकल गया। खारवेल गोरथगिरिको विजय करके वापस कलिङ्ग लौट आये। यह घटना उनके राज्यके सातवें वर्षमें हुई थी!

खारवेलका दान व अर्हत्-पूजा।

कलिङ्ग लौटकर खारवेलने अपने राज्यके नवें वर्षमें खूब दान-पुण्य किया। इस दान-पुण्यका पूरा वर्णन तो नहीं मिलता, किन्तु यह ज्ञात है कि उन्होंने सोनेका कल्पवृक्ष और हाथी, घोड़े, रथ आदि अनेक वस्तुएं दान की थीं। इस दान-कर्ममें उन्होंने ब्राह्मणोंको भी संतुष्ट किया था। अर्हत् भगवानका अभिषेक और पूजा विशेष समारोहके साथ किये थे। अड़तालीस लाख चांदीके सिक्कोंको खर्च करके उन्होंने प्राची नदीके दोनों तटोंपर एक 'महाविजय' नामक विशाल प्रासाद बनवाया था।

खारवेलका भारतपर आक्रमण।

उक्त प्रकार धर्मध्यान और जन-रञ्जनमें एक वर्ष व्यतीत करके खारवेलने अपने राज्यके दशवें वर्षमें 'भारतवर्ष' (Upper India) पर धावा बोला था। इस आक्रमणमें खारवेलने किस राजाको पराजित किया, यह तो विदित नहीं; किन्तु यह स्पष्ट है कि वह अपने उद्देश्यमें सफल हुये थे। उपरान्त कलिङ्ग लौटकर उन्होंने ग्यारहवें वर्षमें अपनेसे पहले हुये एक दुष्ट राजा द्वारा निर्मित राजसिंहासनको बड़ेर गधोंसे जुते हुये हलोंको चलवाकर नष्ट करा दिया और तबसे ११३ वर्ष पहलेकी बनी उसकी ताम्रमूर्तिके टूक-टूक करा दिये! मालूम होता है कि उक्त दुष्ट राजाने जैन धर्मकी अप्रभावना की थी। इसीलिये उनके चिन्होंको रहने देना खारवेलने उचित नहीं समझा था।

मगधपर आक्रमण व महान् विजय।

गोरथगिरिको जीतकर जब खारवेल मगधसे लौटकर आये, तो वहांके वृद्ध शासक पुष्यमित्रने मगधकी रक्षाका विशेष प्रबंध किया। 'अपने लड़कों द्वारा उन्होंने वैराज्य स्थापित किया अर्थात् स्वयं सम्राट् न हुए, उपराजाओं या गवर्नरों द्वारा मुल्क और धर्मके नामसे स्वयं अपनेको सिर्फ सेनापति कहते हुये राज्य करने लगे। मगधका प्रांतिक शासक पुष्यमित्रके आठ बेटों-मेंसे एक अर्थात् बृहस्पतिमित्र नियुक्त हुआ। पुष्यमित्रने फिरसे अश्वमेध मनाया! मालूम होता है कि खारवेलको यह सहन न हुआ। उसपर उन्हें मगध विजय करके 'चक्रवर्ती' पद पाना शेष था। इस लिये अपने पहले आक्रमणसे चार वर्ष बाद ही उन्होंने फिर आक्रमण कर दिया। उत्तरापथके राजाओंको जीतते हुये वह मगधमें जा निकले। हिमालयकी तलहटी २ वह ठीक मगधकी राजधानीके सामने जा पहुंचे थे। गङ्गाको उन्होंने कलिङ्गके बड़े २ हाथियोंके सहारे पार कर लिया था। इस मार्गसे उन्हें सोन नदीके भयानक दल-दलोंका कष्ट नहीं उठाना पड़ा था। फलतः वह पाटलिपुत्रमें दाखिल होगये और नन्दोंके समयके प्रख्यात् राजमहल 'सुगङ्ग' के सामने जा डटे थे। बृहस्पतिमित्र खारवेलकी पराक्रमी सेनाके सम्मुख टिक न सका। खारवेलने उससे अपने पैरोंकी वन्दना कराई। नंदराजा द्वारा लाई गई जिन मूर्तियां वे मगधसे वापस कलिङ्ग लेगये तथा मगधके तोशकखानेसे अंग मगधके रत्न प्रतिहारों समेत उठा लेगये। वस्तुतः खारवेलकी यह महा विजय थी और इसके उपलक्षमें कलिङ्ग लौटकर खारवेलने जैनधर्मका एक महा धर्मा-

नुष्ठान किया था। किंतु खारवेलके इस पराक्रम, चातुर्य और रण-कौशलको देखकर दङ्ग रह जाना पड़ता है। एक ही वर्षमें वह कलिङ्गसे चलकर उत्तर भारतके राजाओंको जीतते हुये मगध जा पहुंचते हैं और वहांके राजाको परास्त कर डालते हैं! उनका यह कार्य ठीक नेपोलियनके ढङ्गका है!

पांड्यदेशके नरेशकी भेंट।

इस महाविजयके साथ ही खारवेलको सुदूर दक्षिणके पाण्ड्य-देशके नरेशसे बहुमूल्य रत्न, हाथियोंको ले जानेवाले ज़हाज़ आदि पदार्थ भेंटमें मिले थे। यह पदार्थ अद्भुत और अलौकिक थे। मालूम होता है कि खारवेलकी पाण्ड्य-नरेशसे मित्रता थी! इस प्रकार साम्राज्य विस्तारके इन प्रयत्नोंका फल यह हुआ कि कलिङ्गका साम्राज्य बढ़ गया। तथापि उस समयके प्रसिद्ध राज्य मगधपर अपना अधिकार जमाकर खारवेलने अपने आपको समग्र भारतमें सर्वोपरि शासक प्रमाणित कर दिया। वह भारतवर्षके सम्राट् होगए।

तत्कालीन दशा।

यहां यह दृष्टव्य है कि उस समय कलिंगकी गणना भारत-वर्षमें नहीं होती थी। इस कालके दो शताब्दि बाद समग्र भारतका उल्लेख 'भारतवर्ष' के नामसे होने लगा था। जैनधर्मका इस समय बहु प्रचार था। मौर्य्य साम्राज्यके नष्ट होनेके पश्चात् अवश्य ही जैनधर्मकी प्रभा शिथिल होगई थी। शुङ्गवंश एवं दक्षिणके सातवाहन वंश ब्राह्मण धर्मानुयायी थे। उनके द्वारा वैदिक धर्मको उत्तेजना मिली थी और अश्वमेधादि यज्ञ भी हुए थे। किन्तु खार-

वेलने जैनधर्मकी इस हीनप्रभाको द्युतिमान् वना दिया । जैन धर्मका पुनरुद्धार होगया । कलिङ्गमें तो वह वहुत दिनों पहलेसे राष्ट्रीय धर्म होरहा था । किन्तु जैन धर्मको उस समय तक केवल एक दर्शन सिद्धान्त मानना कुछ जीको नहीं लगता । ब्राह्मण वर्ण जैन धर्ममें भी है । अतः जिन ब्राह्मणोंको खारवेलने भोजन कराया था, उनका जैन होना वहुत कुछ संभव है । कल्पवृक्ष जैनशास्त्रोंमें मनवांछित फलको प्रदान करनेवाले माने गए हैं । खारवेल भी अपनी प्रजाके लिये कल्पवृक्षके समान सब कुछ प्रदान करके महान् उदार और प्रजावत्सल वनना चाहता था । इसीलिये उन्होंने कल्पवृक्षका दान किया था । करुणाभावसे सब प्राणियोंको दान देना जैन धर्म उचित वतलाता है । जैन शास्त्रोंमें क्षत्री साधुओंका विशेष उल्लेख मिलता है । खारवेलके समय वह एक प्रख्यात् साधु समुदाय होरहा था । खारवेल जैनधर्मावलम्वी था, परन्तु वैदिक विधानानुसार उसका महाराज्याभिषेक हुआ और उसने राजसूय-यज्ञ भी किया था । इससे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि तब जैन धर्ममें साम्प्रदायिक कट्टरता इतनी नहीं थी कि वह प्राचीन राष्ट्रीय नियमोंके पालनमें वाधक होता ।

खारवेलका राज्य प्रबंध ।

खारवेल प्रजाहितैषी राजा थे । वह नहीं चाहते थे कि वह एक स्वाधीन राजाकी तरह शासन करें और प्रजाको पराधीनताका कटु अनुभव चखने दें । इसीलिये उन्होंने 'जनपद' और 'पौर' संस्थायें स्थापित की थीं । यह संस्थायें आजकलकी म्यूनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डोंके समान थीं । 'पौर' संस्था पुर अथवा राजधानीकी संस्था थी । जिसके परामर्शसे वहांका शासन

होता था। जनपद ग्रामीण जनताकी द्योतक है; जिनकी संस्था 'जनपद' कहलाती थी। उन लोगोंका शासन-प्रबंध उसके द्वारा होता था। इस प्रकार खारवेलने जनताको शासन प्रबन्धमें सम्मिलित कर रक्खा था। यही कारण है कि खारवेलके कलिङ्गसे बाहर लड़ाइयोंमें व्यस्त रहनेपर भी राज्यशासन समुचित रीतिसे चालू रहा था। कलिङ्गतर राष्ट्रोंसे उन्होंने साम, दण्ड और संधि नीतियोंके अनुसार व्यवहार किया था।

खारवेलका राजनैतिक जीवन।

खारवेलके हाथोंमें राज्यकी बागडोर छोटी उम्रमें आई थी। वह भी उस नन्हीं उम्रसे एक आदर्श राजा बन गये थे। क्रोध और अत्याचार तो खारवेलके निकट तक नहीं गया था। वह एक जन्मजात योद्धा और दक्ष सेनापति होते हुए भी एक आदर्श नृप थे। उन्होंने अपनी प्रजाको प्रसन्न रक्खा था; जिसका उल्लेख उनने अपने शिलालेखमें बड़े गर्वके साथ किया है। खारवेल अपनेसे पहलेके राजाओं और पूर्वजोंका आदर करते थे। इस दृष्टिसे खारवेल अशोकसे बाजी लेजाते हैं; क्योंकि अशोकने अपने पूर्वजोंका उल्लेख केवल अपनी महत्ता प्रगट करनेके लिये किया है। खारवेलके समयमें वास्तु विद्याकी उन्नतिको उत्तेजना मिली थी। उसने स्वयं बड़े २ महल, मंदिर और सार्वजनिक संस्थाओंके भव्य भवन निर्मापित कराये थे। उनके द्वारा ललितकलाकी भी विशेष उन्नति हुई थी। पूर्ण दक्ष कारीगरों द्वारा उनने सुन्दर पच्चीकारी और नक्काशीके स्तंभ बनवाये थे। सचमुच जब २ वह दिग्विजयसे झण्डा फहराते हुए लौटते थे, तब २ वह अपने राज्यमें

प्रजा हित और धर्म संबंधी अनेक सुकार्य करते थे और मंदिर आदि बनवाते थे। इस बातका स्पष्ट प्रतिघोष उन्होंने अपने लेखके प्रारंभ (पंक्ति २) में कर दिया है। उनके राज्यकालमें कलिङ्गकी धन-संपदा भी खूब बढ़ी थी; क्योंकि समग्र भारतसे उन्होंने बहुमूल्य सम्पत्ति इकट्ठी की थी। इस समृद्धिशाली दशामें कलिङ्ग अवश्य ही रामराज्यका उपभोग कर रहा था और उसके आनन्दकी सीमाका वारापार न था। उसका प्रताप समस्त भारतवर्षमें व्याप्त था। खारवेलने प्रजाके मन बहलावके लिये संगीत और बाजेगाजेका भी प्रबन्ध किया था। यद्यपि खारवेल जैन थे; परन्तु उन्होंने जैनेतर धर्मोंका आदर किया था। उनका व्यवहार अन्य पाषण्डोंके प्रति उदार था और यह राजनितिकी दृष्टिसे उनके लिये उचित ही था। इस ओर उन्होंने कुछ अंशोंमें अशोकका अनुकरण किया था। अतएव इन सब बातोंको देखते हुये सम्राट् खारवेल एक महान् प्रजावत्सल और कर्तव्यपरायण राजा प्रमाणित होते हैं। शिलालेखमें खारवेलको ऐल महाराज, महामेघवाहन चेति राजवंश-वर्द्धन खारवेल श्री—(क्षारवेल) लिखा है तथा उनका उल्लेख 'क्षेमराज; वर्द्धराज, भिक्षुराज और धर्मराज' रूपमें भी हुआ है। अन्तिम उल्लेखसे खारवेलके सुकृत्योंका खासा पता चलता है। उन्होंने प्रजामें, देशमें और समग्र भारतमें क्षेमकी स्थापना की, इसलिये वह क्षेमराज थे। साम्राज्य एवं धर्म-मार्गकी उन्होंने वृद्धि की इस कारण उनको वर्द्धराज मानना भी ठीक है। भिक्षुओं—श्रमणोंके लिये उन्होंने धर्म-वृद्धि करनेके साधन जुटा दिये; इस अवस्थामें उनका 'भिक्षुराज' रूपमें उल्लेख होना कुछ अनुचित नहीं है। अन्ततः धर्मराज तो वह

थे ही-धर्मके लिये उन्होंने अनेक कार्य किये—दान पुण्य किये, भव्य मंदिर बनवाये और धर्मके लिये लड़ाइयां भी लड़ीं। मगधकी लड़ाई लड़कर वह ऋषभदेवकी दिव्य मूर्ति कलिङ्ग लाये। उनकी रानीने उनको कलिङ्ग चक्रवर्ती कहा है।

खारवेलका गार्हस्थ्य जीवन।

खारवेलके पन्द्रह वर्ष कुमार क्रीड़ामें व्यतीत हुये थे। उन्हें सोलहवें वर्षमें युवराज पद मिला था, यह लिखा जाचुका है। कुमार कालमें उन्होंने विद्या और कलामें दक्षता प्राप्त की थी। शिलालेखमें लिखा है (पंक्ति २) कि खारवेलने राजनैतिक दण्डविधान (Law) और धर्मतत्वका सुचारु ज्ञान प्राप्त किया था। वह सब ही विद्याओंमें पारंगत थे। खारवेल देखनेमें प्रभावान और सुन्दर थे। उनके शरीरका रंग बिलकुल गोरा नहीं था। वह प्रशस्त और शुभ लक्षणोंसे युक्त था, जिनका प्रकाश चारों दिशाओंमें फैल रहा था (चतुरंत लुंठनि)। बाल्याव-स्थामें वह राजकुमार वर्द्धमान सदृश बताये गये हैं। और सम्राट् वेणकी तरह उन्हें एक विजयी सम्राट् लिखा गया है। वस्तुतः खार-वेलका गार्हस्थ्य जीवन भी राष्ट्रीय जीवनके समान उन्नत और सुख-मय था। वे अपनी दोनों रानियोंके साथ धर्म, अर्थ, और काम पुरुषार्थोंका समुचित उपभोग कर रहे थे। वजिरघरवाली रानी उनकी अग्रमहषि (पटरानी) थीं। दूसरी रानी सिंधुडा संभवतः राजा लाल-कसकी पुत्री थीं, जो हथीसहसके पौत्र थे। इन रानीके नामपर हाथी-गुफाके पास एक 'गिरिगुहा' नामक प्रासाद बनाया गया था। इसे अब रानी नोर कहते हैं। इन रानियोंका खारवेलके समान उन्नत-

ममा और धर्मात्मा होना स्वाभाविक है। वे प्रेमालु थी, उदार थीं और शीलसम्पन्ना थीं।

उन्होंने भी भव्य जिनमंदिरोंको बनवाया था! खारवेलको उन रानियोंसे कितनी संतान पानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, यह कहा नहीं जासकता। किंतु वह उनके समान सुयोग्य सह धर्मिणियोंको पाकर एक आदर्श श्रावक बने थे, इसमें संशय नहीं। वजिरघर-वाली रानीके कोखसे जो पुत्र हुआ था, वही संभवतः खारवेलके बाद कलिङ्गका राजा हुआ था।

खारवेलके जैनधर्म प्रभावनाके कार्य।

खारवेलका धार्मिक जीवन अनूठा था। जब वह अपनी दिग्वि-जय पूर्ण कर चुके और सारे भारतवर्षमें उनकी धाक जम गई, तब उन्होंने विशेष रीतिसे धर्मानुष्ठानके कार्य किये थे। यह उनके राज्यके तेरहवें वर्ष अर्थात् सन् १७० ई० पू०की बात है। सम्राट् खारवेल कुमारी पर्वत (उदयगिरि) के अर्हत् मंदिरमें जाकर विशेष भक्ति और व्रत उपवास करनेमें दत्त-चित्त हुये थे। इस प्रकार व्रत और उपवासमें लीन होनेका फल यह हुआ था कि वह अपने भवभ्रमणको नष्ट करनेके निकट पहुंच गये थे, क्षीणसंसृत हुये थे। श्रावकोंके व्रतोंका पालन उन्होंने सफ-लतापूर्वक कर लिया था (रत-उवास-खारवेल-सिरिना)। फलतः उन्हें जीव और देहकी भिन्नताका प्रत्यक्ष अनुभव होगया था। भेद-विज्ञानको उन्होंने पालिया था और यह संसारका नाश करनेके लिये पर्याप्त है। अतएव सम्राट् खारवेलको जो धर्मराज और भिक्षुराज कहा गया है, वह बिलकुल ठीक है। कुमारी पर्वत संभवतः भगवान

महावीरजीके समवशरणसे पवित्र होचुका था; क्योंकि भगवानके समोशरणका कलिङ्गमें आनेका उल्लेख जैनशास्त्रोंमें मिलता है तथा खारवेलके शिलालेखमें स्पष्ट कहा है कि (पंक्ति १४) इस पर्वतपरसे जैन धर्मका प्रचार हुआ था। इस ही पर्वतपर खारवेल और उनकी रानीने अनेक मंदिर व विहार बनवाये थे। उनमें चारों ओरसे जैन श्रमण और विद्वान् एकत्रित होकर धर्माराधन करते थे। वहांपर खारवेलने सुन्दर संगमरमरके पाषाण-स्तंभ बनवाये थे; जिनमें घंटा लगे हुये थे।

ऐसे स्तंभ मध्यकालके बने हुये नेपालमें आज भी देखनेको मिलते हैं। इस प्रकार सम्राट् खारवेलके सुकार्योंसे उस समय खूब ही धर्मप्रभावना हुई थी। जैनधर्मका प्रचार ऋषियोंद्वारा दिगन्तव्यापी हुआ था। मालूम होता है कि खारवेलने कोई धार्मिक महोत्सव कराया था; क्योंकि शिलालेखमें कहा गया है (पंक्ति १६) कि सम्राट् खारवेलने 'कल्याणकों' को देखने, सुनने और उनका अनुभव प्राप्त करनेमें जीवन यापन किया था। ('धमराजा पसंतो सुणतो अनुभवतो कलाणानि') यह महोत्सव आजकलके बिम्बप्रतिष्ठाओंके समय होनेवाले पंच-कल्याणकोंके समान ही होते थे, यह कहा नहीं जासक्ता। खारवेल द्वारा निर्मित गुफाओंका मूल्य अत्यधिक है। उनमें भगवान पार्श्वनाथजीकी जीवनलीला सम्बंधी चित्र दर्शनीय हैं। शिलालेखमें 'अकासन' नामक गुफाके बनवानेका उल्लेख है। ये सब गुफायें सुंदर और दर्शनीय हैं।

यूं तो खारवेलके सुकृत्योंसे जैन धर्मकी विशेष उन्नति हुई ही थी; किन्तु उनके सदप्रयत्नसे जो द्वादशाङ्ग-

जिनवाणीका उद्धार। वाणीके पुनरुद्धारका उद्योग हुआ था, वह विशेष उल्लेखनीय है; उनके शिलालेखमें (पंक्ति १६) स्पष्ट उल्लेख है कि खारवेलके समयमें द्वादशाङ्गवाणी लुप्त हुई मानी जाती थी। सम्राट् खारवेलने उसका यथासाध्य उद्धार किया था। उन्होंने जैन ऋषियोंका एक संघ एकत्रित किया था और उसके द्वारा इस उद्धारका सद्प्रयास हुआ था। मि० जायसवालने शिलालेखके इस अंशका यह अर्थ प्रकट किया है कि "मौर्य्य राजाके समय जो ६४ विभागोंका चतुर्याम अङ्ग-सप्तिक लुप्त होगया था, उसका उद्धार खारवेलने किया।" इसका भाव स्पष्ट नहीं है; किन्तु मि० जायसवाल इसका पुनः अध्ययन करके खुलासा प्रकट करनेवाले हैं। कुछ भी हो, इस शिलालेखीय उल्लेखसे दिगम्बर जैनोंकी मान्यताका समर्थन होता है। दिगम्बर जैनोंका विश्वास है कि द्वादशाङ्गवाणीका विच्छेद श्रुतकेवली भद्रबाहुजीके साथ होगया था. और उनके बाद विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल्ल, गंगदेव और सुधर्म ये ग्यारह आचार्य केवल दशपूर्वके धारी एकके बाद एक १८३ वर्षमें हुए थे। अतएव चन्द्रगुप्त मोर्यके समय नष्ट हुआ अंगज्ञान १८३ वर्ष बाद तक केवल दशपूर्व रूपमें किञ्चित् शेष रहा था।

इन दशपूर्वीयोंके उपरान्त नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस नामक पांच आचार्य ग्यारह अंगोंके धारक २२० वर्षमें हुये थे। इन ग्यारह अंगों अर्थात् अंगज्ञानके धारकोंका अस्तित्व तब ही संभव है जब मौर्य्यराजासे १८३ वर्षके अन्तरालकालमें उनका पुनरुद्धार हुआ हो। सम्राट् खारवेलका उक्त कार्य इस अन्तराल

कालमें हुआ प्रकट होता है; क्योंकि जैन पट्टावलियोंके अनुसार भद्रबाहुजीसे १८३ वर्षोंमें हुये दशपूर्वीयोंका अन्तिम समय सन् २०० ई० पू० ठहरता है और इस समय खारवेल विद्यमान थे। इस दशामें कहना होगा कि खारवेलके शुभ प्रयत्नसे लुप्त-प्राय: अङ्गग्रन्थ पुन: उपलब्ध हुये थे। समग्र भारतके ऋषि कुमारी पर्वत पर एकत्र हुये थे और वहां जिन२को जिस२ अङ्गका जितना ज्ञान था, उसको प्रकट किया था और इस प्रकारके सहयोगसे अङ्गज्ञानका उद्धार होगया। साथ ही इस उल्लेखसे सम्राट् खारवेलका प्राचीन निर्ग्रंथसंघका पोषक होना प्रमाणित है। यह लिखा जाचुका है कि श्रुतकेवली भद्रबाहुजीके बादसे ही जैन संघमें भेद उपस्थित होगया था, जो ईसवी प्रथम शताब्दिमें पूर्ण व्यक्त हुआ था। सचमुच कलिङ्गमें उस जैन धर्मका प्रचार था जिसमें सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य्यके समयमें आचार्य स्थूलभद्रकी अध्यक्षतामें एकत्र हुये जैन संघके द्वारा स्वीकृत अङ्ग ज्ञानको स्वीकार नहीं किया गया था।

(हॉ जे० पृ० ७०–७२ व ज़बिओसो० भा० १३ पृ० २३६)

खारवेलका शिलालेख।

सम्राट् खारवेलका हाथी गुफावाला शिलालेख भारतीय इतिहासके लिये बड़े महत्वका है। वेदश्रीके नानाघाटवाले शिलालेखके बाद प्राचीनतामें इसीको दूसरा नंबर प्राप्त है। यह करीब १५ फीट १ इंच लंबा और ५॥ फीट चौड़ा है और १७ पंक्तियोंमें विभक्त है। इसकी भाषा एक ऐसी प्राकृत है, जो अपभ्रंश प्राकृत, अर्धमागधी और पालीसे मिलती जुलती है तथा उसमें जैन प्राकृतके शब्द भी हैं। लिपि उत्तरीय ब्राह्मी है; जिसे

बुल्हर सा० सन् १६० ई०पू० इतनी प्राचीन मानते हैं। शिला-लेखमें कुल चार चिन्ह हैं। इनमेंसे प्रथम पंक्तिके प्रारम्भमें जो हैं, वह-(१) स्वस्तिका और (२) वर्द्धमंगल हैं। तीसरा चिन्ह 'नंदिपद' भी प्रथम पंक्तिमें है, परन्तु वह खारवेलके नामके ठीक बादमें अंकित है। यह चिन्ह अशोकके जाडगढ़के लेख एवं सिक्कों आदिमें भी मिलता है। चौथा कल्पवृक्ष लेखके अंतमें है। ऐसे ही चिन्ह उदयगिरिकी सिंह और वैकुण्ठ नामक गुफाओंमें हैं। यह शिलालेख सन् १७० ई०पू०के समय किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखा गया प्रगट होता है, जो खारवेलसे वयमें बड़ा था। और जिसको उनका परिचय बाल्यकालसे था।

नन्दाब्द।

मि० जायसवालने पहले इस लेखमें (पंक्ति १६) मौर्याब्दका उल्लेख हुआ अनुमान किया था किंतु उनका यह अनुमान ठीक न निकला और उन्होंने इस पंक्तिको फिरसे पढ़ा है एवं इसका अर्थ जैन वांगमयका उद्धार करना प्रगट किया है, इस प्रकार यद्यपि मौर्य्याब्दका कोई उल्लेख इस लेखमें नहीं है; किंतु नन्दोंके एक अब्दका उल्लेख (पंक्ति ६) अवश्य है। विद्वान लोग इस नन्द अब्दको नंदवर्द्धन द्वारा प्रचलित किया गया प्रमाणित करते हैं। वह कहते हैं कि नन्दवर्द्धनका राज्य ई०पू० सन् ४५७से प्रारम्भ हुआ था और सन् ४५८ ई० पू०से उनका अब्द प्रारम्भ हुआ था। सन् १०३० के समय जब अलबेरूनी भारतमें आया था तब यह नंदाब्द मथुरा और कन्नौजमें बहु प्रचलित था।

(जबिओसो०, भा० १३ पृ० २३७-२४१)

खारवेलके इस शिलालेखसे कलिङ्गमें जैन धर्मका अस्तित्व

कलिङ्गमें जैनधर्म।

बहुत प्राचीन सिद्ध होता है। हम देख चुके हैं कि जैन शास्त्रोंमें तो उसे जैनधर्मसे संबन्धित भगवान ऋषभदेवके समयसे बताया गया है। फलतः कलिङ्गमें जिस प्राचीन कालसे जैनधर्मका सम्पर्क जैन शास्त्र प्रगट करते हैं, उसका समर्थन इस लेखसे होता है। पंक्ति १२ में स्पष्ट उल्लेख है कि नन्दराज कलिङ्ग विजयके समयमें रत्नों व अन्य बहुमूल्य पदार्थोंके साथ जिन भगवानकी एक मूर्ति भी लेगये थे। खारवेलने जब अङ्ग और मगधपर अपना अधिकार जमा लिया था, तब वह इस मूर्तिको वापिस कलिङ्ग लेआये थे। इस उल्लेखसे नन्दराजाका जैन धर्मानुयायी होना प्रमाणित है तथा यह भी सिद्ध है कि ओड़ीसासे जैनधर्मका सम्पर्क स्वयं भगवान महावीरजीके समयमें था। जैन मूर्तियां भी उस समय अर्थात् सन् ४५० ई० पू० के पहलेसे बनने लगी थी। इस आधारसे मि० जायसवाल कहते हैं कि जब ओड़ीसामें सन् ४५० ई० पू० के पहलेसे जैनधर्म आगया था और जैन मूर्तियां बनने लगीं थीं तब महावीर निर्वाण सन् ५४५ ई० पू० मानना ही ठीक है; जैसे वह प्रमाणित कर चुके हैं। (जीवओसो० भा० १ पृ० ९९-१०५)

खारवेलका अंतिम जीवन और उनके उत्तराधिकारी।

उक्त शीलालेखमें सन् १७० ई० पू० तक जो २ बातें खारवेलके राज्यमें हुई थीं, उनका वर्णन है। इसके उपरांत ऐसा कोई निश्चयात्मक साधन प्राप्त नहीं है, जिससे खारवेलके अंतिम जीवनका पता चलसके। इस समय

खारवेलकी आयु करीव ३७ वर्षकी थी। खारवेल जैसे पराक्रमी वीर अवश्य ही इस समय हृष्टपुष्ट होंगे। अतः उनका सन् १७० ई० पू०से और १०-२० वर्ष और राज्य करना बहुत कुछ संभव है। हमारे विचारसे जब खारवेलके सुपुत्रकी अवस्था २४ वर्षकी होगई तब सन् १५२ ई० पू० में खारवेलका राज्य कार्यसे विलग होजाना प्राकृत सुसंगत है। इस समय वह वृद्ध होचले थे और यह भी संभव है कि उन्होंने जिन दीक्षा ग्रहण करली हो। जो हो, मि० जायसवाल जो उनका स्वर्ग वास काल सन् १६९-१५२ ई० पू० में मानते हैं, वह ठीक है। खारवेलके उत्तराधिकारी उनके सुपुत्र हुये थे। संभवतः उन्हींका उल्लेख खंडगिरीकी एक गुफाके शिलालेखमें है। उसमें उनको कलिङ्गाधिपतकुदेप श्री खर महामेघवाहन लिखा है। जबिओसो० भा० ३ पृ० ५०५) यह भी जैनधर्मानुयायी थे।

खारवेलका वंश गर्द-भिल्ल वंश है।

खारवेलके बाद कलिङ्गके इस प्रसिद्ध राजवंशका कुछ पता नहीं चलता; किन्तु भुवनेश्वरके एक संस्कृत ग्रंथमें मौर्योंके पश्चात् जिस राजवंशने कलिङ्गमें राज्य किया था, उसका परिचय 'भिल' वंशके नामसे दिया है। इस वंशमें कुल सात राजा हुये थे, जिनके नाम क्रमानुसार इस प्रकार हैं:-(१) ऐर भिल, (२) खर भिल, (३) सुर भिल, (४) नर भिल, (५) दर भिल, (६) सर भिल और (७) खर भिल द्वितीय। उक्त ग्रन्थमें जो समय इस वंशके राज्यकालका दिया है उससे पता चलता है कि ई० पू० ८९ में इस वंशका अंत होगया था। विद्वान लोग इस वंशको खारवेलसे सम्बन्धित बतलाते हैं तथा उक्त राजाओंमें नं०

२ के राजाको खारवेल बतलाते हैं।[1] हिन्दू पुराणोंमें आन्ध्रवंशी राजाओंके समसामयिक राजवंशोंमें एक 'गर्दभिल' भी बताया गया है, जिसके कुल सात राजा थे।[2] खारवेल शातकर्णि प्रथमका समकालीन था और कलिंगमें मौर्योंके बाद उनके वंशने ही राज्य किया था। अतएव उक्त भिलवंश अथवा गर्दभिल्लवंशको खारवेलके राजवंशका द्योतक मानना उचित है। मम० जायसवाल इस शब्दकी उत्पत्ति खारवेल नामसे ठहराते हैं। खारवेलसे खरवेल हुआ, खर और गर्दभ संस्कृतमें पर्यायवाची एक ही अर्थके शब्द हैं। और वेल शब्द भिल्लमें पलट दिया गया। इस रूपमें खरवेलसे 'गर्दभिल्ल' या 'गर्द भिल' शब्द बन गया। जिनसेनाचार्यने इन्हीं राजाओंका उल्लेख रासभ राजाओंके नामसे किया है।[3]

इस वंशके अंतिम राजा खर भिल द्वितीय (खरवेल द्वितीय) ही उज्जैनके गर्दभिल्ल अनुमान किये गये हैं क्योंकि दोनोंका समय एक है और वह विक्रमादित्यके श्वसुर थे।[4] विक्रमादित्य गर्दभिल्लका उत्तराधिकारी माना ही जाता है। कालकाचार्यने इसी गर्दभिल्ल वंशके विरुद्ध शकोंको भेजा था। अतः इस उल्लेखसे खारवेलके राजवंशका राज्य उसके बाद पांच पीढ़ियों तक रहा प्रमाणित होता है। 'प्राची-महात्म्य' नामक पुस्तकमें एक चित्र नामक व्यक्तिका वर्णन है। विद्वज्जन उसको खारवेलका दादा अनुमान करते हैं। उसकी पत्नी

१—जविओसो०, भा० १६ पृ० १९१—१९६। २—जविओसो०, भा० १६ पृ० २०२। ३—जविओसो०, भा० १६ पृ० २०६—२०७। ४—जविओसो०, भा० १६ पृ० २०५।

ब्राह्मणवर्णकी थी और उसके पुत्र उसके जीवनकालमें ही स्वर्गवासी होगये थे। फलतः उसके पौत्रका नन्हा बालक होना उचित है। खारवेलके शिलालेखसे यह प्रकट ही है कि बाल अवस्थासे ही कलिंगराज्यका भार उनपर आगया था।

उड़िया ग्रन्थोंमें खारवेल।

उपरोक्त पुस्तकोंके अतिरिक्त उड़ियाके "मदल पञ्जि" (Madal Panji) नामक ग्रन्थमें भी खारवेलका वर्णन भोज नामसे हुआ अनुमान किया जाता है। इस ग्रन्थसे राजा भोजके राज्यका प्रारम्भ ई० पूर्व १९४से प्रमाणित होता है और खारवेल ई० पूर्व १९२ में युवराज हुए थे। संभवतः भोज नामकी प्रसिद्धिके कारण अथवा खारवेलके विरुद्ध भिक्षुराजके अपभ्रंश (भोजराज) के रूपमें यह नाम उक्त ग्रन्थमें खारवेलके लिये लिखा गया है। उक्त ग्रन्थसे प्रगट है कि खारवेल एक वीर, पराक्रमी, उदार, न्यायशील और दयालु राजा थे। उनके दरबारमें ७५० प्रसिद्ध कवि थे; जिनमें मुख्य कालीदास थे। उनके रचे हुये चनक और महानाटक नामक ग्रन्थ थे। महानाटकका प्रचार कहीं२ अब भी ओड़ीसामें मिलता है। खारवेलके द्वारा नावों, चर्खों और गाड़ियोंका प्रचार पहले२ कलिङ्गमें हुआ था। उन्होंने सारे भारतवर्ष-पर विजय प्राप्त की थी। सब ही राजाओंको अपना करद बना लिया था। सिन्धु देशके यवनोंको भी खारवेलने मार भगाया था।[२] 'सारला महाभारत' नामक उड़िया काव्यमें भी खारवेलका वर्णन

१-जविओसो०, भा० १६ पृ० १९४-१९६।
२-जविओसो०, भा० १६ पृ० २११-२१९।

मिलता है। इससे प्रगट है कि खारवेलके पहले कलिङ्गमें बौद्ध राजा थे। खारवेलने ब्राह्मणोंको साथ लेकर उन्हें मार भगाया और आप स्वयं वहांके राजा बन गये। महान् सेना लेकर उन्होंने दिग्विजयकी और वह सार्वभौम सम्राट् होगये। वह भीम कालवेर वीर चक्रवर्ती कहलाते थे।[1]

अन्तमें उन्होंने अपने धर्मगुरुके कहनेसे राज्यका त्याग कर दिया—विष्णु—कर (खर) को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करके वह वनमें जाकर तपस्या करने लगे। शिलालेखमें उनके राज्यके १३ वें वर्षके उपरांत कोई वर्णन नहीं है। इसका कारण यही है कि थोड़े समय पश्चात् ही वह मुनि होगये थे। उक्त ग्रन्थोंसे भी उनका जैनी होना सिद्ध है। वह श्रावकके व्रतोंका अभ्यास पहले ही करने लगे थे। अन्तमें उनका मुनि होजाना स्वाभाविक था।

ईस्वी प्रथम शताब्दिमें कलिंग आंध्रवंशके राजाओंके अधिकारमें आगया। उसपर भी जैनधर्मका अस्तित्व वहां ११—१२ वीं शताब्दितक खूब रहा था; किन्तु उपरान्त मुसल्मानोंके आक्रमणों एवं जैनेतर संप्रदायोंके प्राबल्यसे वहां जैन धर्मका प्रायः अभाव हो गया। इतनेपर भी आज वहां हजारोंकी संख्यामें 'सराक' (श्रावक) लोग मौजूद हैं, जो प्राचीन जैनी हैं, परन्तु अपनेको भूले हुये हैं। उनको पुनः जैन धर्ममें लानेका उद्योग होरहा है। सातवीं शताब्दिमें जब चीनी यात्री हुएनसांग यहां आया था; तब भी उसे कलिंगमें जैन धर्म उन्नतावस्थामें मिला था।[2]

१—जबिओसो०, भा० १६ पृ० १९९—२०३। २—बं० वि० स्मा० पृ० ८७—८८।

संक्षिप्त संवत्वार विवरणः—

सन् ईसवी पूर्व

२२५ कलिंगमें चेदिवंश और दक्षिणमें सातवाहन राज्यका उदय।

२०७ खारवेलका जन्म;

१९२ खारवेलको युवराजपद प्राप्त हुआ;

१८८ पुष्यमित्रका राज्यारोहण;

१८३ खारवेलको राज्य-प्राप्ति;

१८२ शातकर्णि प्रथम राज्य करते और खारवेलका आक्रमण;

१७९ खारवेलका राष्ट्रिक व भोजक क्षत्रियोंपर विजय पाना;

१७८ तनखुलिय—बाट नहरका राजधानीमें लाना;

१७७ खारवेलने सम्राट्पद ग्रहण किया; महाराजाभिषेक व राजसूय यज्ञ हुआ;

१७६ संभवतः खारवेलको राजकुमारकी प्राप्ति;

१७५ गोरथगिरिकी लड़ाई, दमेत्रिय (डिमिट्रियस)का मथुरा छोड़जाना।

१७३ खारवेलका उत्तरापथपर आक्रमण;

१७२ खारवेल द्वारा कलिंगमें जैन पूजाका सुधार;

१७१ पुष्यमित्रकी पराजय;

१७० खारवेलका कुमारी पर्वतपर व्रत उपवास करना और मंदिरादि बनवाना; जैन संघ एकत्र होना और जैन वांगमयका उद्धार कराना। (संभवतः शिलालेख भी इसी वर्षमें उत्कीर्ण कराया गया था।)

१६९–१५२ संभवतः खारवेलका देहावसान हुआ।

१५२ पुष्यमित्रकी मृत्यु !

(२)

अन्य राजा और जैन संघ।

दिगम्बर-श्वेतांबर-भेद; उपजातियोंकी उत्पत्ति।

(सन् १०० ई० पू०—सन् २०० ई०)

ईसवीकी प्रारम्भिक शताब्दियां सुतरां उससे भी किंचित् पहलेका भारतीय इतिहास अन्धकारापन्न है।

तत्कालीन जैनधर्म। उस समयका कुछ भी ठीक पता नहीं चलता। तौभी जो कुछ भी परिचय प्राप्त है, उसके आधारसे यहांपर इस कालमें जैनधर्मके अस्तित्वका ज्ञान कराया जाता है। शक और कुशन आदि विदेशियोंका राज्य ई० से पूर्व प्रथम शताब्दिसे भारतमें उत्तर पश्चिमीय सीमा प्रांतसे लेकर पंजाब, मथुरा और मालवा तक जमा हुआ था और इन स्थानों एवं इन विदेशियोंमें जैनधर्मकी मान्यता भी विशेष थी; यह लिखा जाचुका है। इनके अतिरिक्त उस समय उत्तर भारतमें जैनोंका सम्पर्क किन २ राजवंशोंसे था, यह ठीकसर बताना कठिन है।

रोहेलखण्ड उस समय अहिच्छत्रके राजाओंके अधिकारमें था।

अहिच्छत्र (रामनगर—बरेली) के राजा लोग

अहिच्छत्रके राजवंशमें जैन धर्म। नागवंश अनुमान किये गये हैं।[1] इस वंशका अस्तित्व भारतमें महाभारतकाल अथवा राजा तक्षक नागके समयसे प्रमाणित है। यद्यपि यह वंश विदेशी और संभवतः हूण जातिका था; किन्तु

१—कंजाइं, पृ० ४१२।

जैन मान्यता इसका निकास इक्ष्वाकु नामक क्षत्रिय वंशसे हुआ प्रगट करती है। वस्तुतः नागवंशजोंके विवाह-सम्बन्ध भारतीय क्षत्री घराजोंसे होते थे। अहिच्छत्रमें इस वंशका राज्य संभवतः भगवान पार्श्वनाथजीके समयसे था। तत्कालीन राजाने भगवान पार्श्वनाथकी बड़ी विनय की थी। भगवान महावीरजीके तीर्थकालमें वहांके एक राजा वसुपाल थे। उन्होंने अहिच्छत्रमें एक सुन्दर और भव्य जैन मंदिर निर्माण कराया था।[1] वहांके कटारीखेडाकी खुदाईमें डा० फुहरर सा० ने एक समूचा सभा मंदिर खुदवा निकलवाया था। यह मंदिर ई० पू० प्रथम शताब्दिका अनुमान किया गया है और यह श्री पार्श्वनाथजीका मंदिर था। इसमेंमें मिली हुई नग्न जैन मूर्तियां सन् ९६ से १५२ तककी हैं। एक ईटोंका बना हुआ प्राचीन स्तूप भी वहां मिला था। वहां स्तंभपर एक लेख इस प्रकार था—'महाचार्यइन्द्रनंदिशिष्य पार्श्वपतिस्स कोट्टारी।"[2]

इन वस्तुओंसे ईसवी सन्‌के प्रारम्भ कालमें वहां जैनधर्मका विशेष प्रचार प्रकट होता है। एक समय मथुराके आसपास भी नागवंशका राज्य रह चुका है। उनकी राजधानी काष्ठा नगरी थी।[3] जैन समाजमें एक काष्ठासंघ विख्यात् है।

मथुराका नागवंश और जैनधर्म।

उसका यह नामकरण उस नगरीकी अपेक्षा हुआ प्रतीत होता है; क्योंकि काष्ठासंघका अपरनाम मथुराकी अपेक्षा माथुरसंघ है और जैन शास्त्रोंमें देश अपेक्षा प्रसिद्ध हुआ कहा भी गया है।[4] अतएव

१–भपा०, पृ० ३६८। २–संप्राजैस्मा०, पृ० ८१। ३–राइ०, भा० १ पृ० २३१। ४–जैहि०, भा० १३ पृ० २७२ मैनपुरीके सं०

काष्ठानगरमें एक समय और संभवतः उक्त नागवंशके राज्य कालमें ही जैनधर्मका प्रभाव विशेष था। वहांका जैनसंघ आज भी भारतके विभिन्न स्थानोंमें फैला हुआ है। यह भी संभव है कि उक्त नाग-वंशके राजा जैन संघके पोषक हों। संभवतः इसी कारण वहांका संघ खूब फूला फला था।

पांचाल राज्यमें जैनधर्म व दानवीर भवड़।

मथुरासे उत्तर पूर्वकी ओर पांचाल राज्य था। उसकी राज-धानी प्राचीन कालसे कांपिल्य थी। जैनोंके तेरहवें तीर्थङ्कर श्री विमलनाथजीका जन्मस्थान और तपोभूमि भी यही नगर था। विक्रमकी पहली शताब्दिमें यहांपर **तपन** नामक राजा राज्य करता था। उसी समय भावड़ नामक एक धर्मात्मा जैन सेठ यहां रहते थे। यह एक प्रतिष्ठित धनी व्यापारी थे। इनका व्यापार देश-विदेशसे होता था। जहाजोंमें माल भेजा जाता था। एक दफे दुर्भाग्यसे इनके सारे जहाज समुद्रमें डूब गये। इससे उनके व्या-पारको बड़ा धक्का लगा। किन्तु वह धीरजसे व्यापार करते रहे। एक घोड़ीसे इनके भाग चमक गये। वहांके राजाने तीन लाख रु० में उस घोड़ीको भावड़से खरीद लिया था। उसके बछेड़ेको भावड़ने विक्रम राजाको भेट किया। राजाने प्रसन्न होकर उन्हें महुआ आदि कई ग्राम दिये। भावड़ उन ग्रामोंका नायक बन गया। उनकी भावला नामक स्त्रीसे उनको भवड़ नामक पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई।

१८६७के लिखे हुए एक गुटकेमें काष्ठासंघकी रीतियां काष्ठादि देशकी कहीं गई हैं (काष्ठासंघश्चिरंजीयात्क्रिया काष्ठादि देशकः) अतः काष्ठा नाम देश अपेक्षा ही है।

यह बड़ा दानवीर था। शिक्षित और युवा होनेपर भवड़का विवाह घेटी सेठकी पुत्री सुशीलासे स्वयंवर विधिसे हुआ था। भवड़ सानंद कालयापन कर रहा था कि अचानक यवन सेनाका आक्रमण हुआ।

भवड़ इस लड़ाईमें बंदी हुआ और यवन लोग उसे अपने साथ लेगये। भवड़ वहां भी अपना धर्म-पालन करता रहा और उसने मंदिर भी बनवाये। उसने एक मासका उपवास किया और उसके पुण्यफलसे चक्रेश्वरीदेवीकी सहायता उसे प्राप्त हुई। उसकी सहायतासे भवड़ बन्धन मुक्त हुआ और तक्षशिलासे आदिनाथ प्रभुकी मूर्ति लेकर वह जहाजमें बैठा और महुआ आगया। अब सौभाग्यसे उसे समुद्रमें खोये हुए जहाज भी मिल गये। भवड़के दिन फिर गये। उस समय आचार्य वज्रस्वामीके उपदेशसे शत्रुंजय तीर्थका उसने उद्धार कराया और खूब दान-पुण्य किया। श्री आदिनाथ भगवानकी प्रतिमा वहां विराजमान कराई। वज्रस्वामी एक प्रतिभासम्पन्न साधु थे। उन्होंने दक्षिणके किसी बौद्ध सम्राट्को जैनी बनाया था। श्वेतांबर संप्रदायमें भवड़ सेठ और वज्रस्वामी बहु प्रसिद्ध हैं।[1] न मालूम इस श्वेतांबर कथामें कितना सत्य है?

कोशाम्बी राज्यमें जैनधर्म।

कोशाम्बीके पुरातत्वसे वहांपर जैनधर्मका विशेष सम्पर्क रहा प्रमाणित है। वहांसे कुशानकालका मथुरा जैसा एक आयागपट्ट मिला है; जिसे राजा शिवमित्रके राज्यमें शिवनंदिकी शिष्या बड़ी स्थविरा बलदासाके कहनेसे शिवपालि-

---

१–शत्रुंजय माहात्म्य—गुसापरि० जैनवि०, पृ० ९९–९६।

तने अर्हंतोंकी पूजाके लिये स्थापित किया था। इस उल्लेखसे कोशाम्बीमें एक बृहत् जैन संघके रहनेका पता चलता है। यहींपर काश्यपी अर्हंतोंके सं० १०में आषाढ़सेनने एक गुफा बनवाई थी। वह आषाढ़सेन अहिच्छत्रके राजा शोनकायनके प्रपौत्र और राजा वंगपाल व रानी त्रिवेणीके पौत्र थे। इनके पिताका नाम राजा भागवत था और इनकी मां वैहिदरी थीं। यह गुफा सन् १००–२०० ई० पू० के लगभग बनी थी।[२] यह प्रगट है कि अहिच्छत्रके राजाओंमें जैनधर्मकी मान्यता प्राचीन कालसे थी। साथ ही उक्त काश्यपी अर्हत शब्द भगवान महावीरका द्योतक प्रतीत होता है; क्योंकि भगवानका गोत्र काश्यप था। अतः यह संभव है कि उक्त गुफा जैनोंके लिये बनाई गई हो।

जैन राजा पुष्पमित्र। स्कंधगुप्तका लेख जो भिटारीके स्तम्भपर अङ्कित है, उसमें लिखा है कि स्कंधगुप्तने पुष्पमित्रको विजय किया था। यह पुष्पमित्र सन् ४५५ में राज्य कर रहा था। इस वंशका प्रारंभ सन् ७८ ई० से सन् ९३७ ई० तक चलता रहा था। इसका निकास कहांसे और कैसे हुआ था, यह कुछ ज्ञात नहीं है। राजा कनिष्कके समयमें यह वंश बुलन्दशहरके पास बस गया था और अपनेको जैन धर्मानुयायी कहता था।

जैन शास्त्रोंसे इस समय विक्रमादित्य नामक एक प्रसिद्ध सम्राट्का पता चलता है; यद्यपि इतिहासमें

१–संप्राजैस्मा०, पृ० २९. २–संप्राजैस्मा०, पृ० २८. ३–संप्राजैस्मा०, पृ० १८७.

राजा विक्रमादित्य गौतमीपुत्र शातकर्णि। इस नामके राजाका तब कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वास्तवमें विक्रमादित्य कोई खास नाम न होकर केवल उपाधि मात्र है। इस अपेक्षा उस समयके इतिहासमें इस नामका कोई राजा न मिलना कुछ अनोखापन नहीं रखता। अतः आवश्यक है कि तत्कालीन राजाओंमें ऐसे किसी वीर और पराक्रमी राजाका पता चलाया जाय, जो विक्रमादित्य उपाधिका अधिकारी होसके। इस अपेक्षा अब प्रायः सब ही विद्वान् इस समय एक विक्रमादित्य राजाका होना स्वीकार करने लगे हैं।[1] जैन शास्त्र कहते हैं कि वह गर्दभिल्लका पुत्र था। और प्रतिष्ठानपुरसे आकर उसने शकोंको परास्त करके भारतका विदेशी लोगोंसे उद्धार किया था। जैन, अजैन एवं शिलालेखीय आधारसे मम० काशीप्रसाद जायसवाल इस परिणामपर पहुंचे हैं कि यह विक्रमादित्य प्रतिष्ठानपुरके आन्ध्रवंशका गौतमीपुत्र शातकर्णि नामका प्रसिद्ध राजा था। 'गाथासप्तशती' के कर्ता राजा हालने (ई० सन् २१) एक गाथामें विक्कमाइच्च (विक्रमादित्य) की दानशीलताका वर्णन किया है। इस उल्लेखसे विक्रमादित्य उपाधिधारी राजाका उनसे पहले होजाना सिद्ध है। वस्तुतः आन्ध्रवंशमें गौतमीपुत्र शातकर्णि हालसे पहले होचुके थे। उनका समय ई० पूर्व १००–४४ है। जैन शास्त्र विक्रमादित्यको प्रतिष्ठानपुरसे आया बताते ही हैं और उनकी जीवनघटनायें भी गौतमीपुत्र शातकर्णिके जीवनसे मिलती हैं। इस कारण उन्हें गौतमीपुत्र शातकर्णी मानना ठीक

१-कैहिइ०, भा० १ पृ० १६७–१६८, अलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज, भा० २ पृ० ११३–१४७.

है। किन्तु जैन शास्त्र उन्हें गर्दभिल्लका पुत्र बताते हैं और गौतमीपुत्र संभवतः मेघस्वातिके पुत्र थे। इस भेदका सामञ्जस्य विक्रमादित्यको गर्दभिल्लका उत्तराधिकारी माननेसे होजाता है।

गर्दभिल्लवंश वस्तुतः आन्ध्रवंशसे भिन्न है। जैन और अजैन शास्त्र उनका उल्लेख अलग-अलग ही करते हैं और यह निश्चित् है कि प्रतिष्ठानपुरमें आन्ध्रवंशके राजा राज्य करते थे। अतएव प्रतिष्ठानपुरसे आया हुआ विक्रमादित्य गर्दभिल्लका पुत्र न होकर उत्तराधिकारी होना चाहिये। सोमदेवकी 'कथासरितसागर' से प्रगट है कि गौतमीपुत्रका वंशज कुन्तल शातकर्णि, जिसका राज्यकाल ७५—८३ ई० है, कलिंगके भिल्ल=(गर्दभिल्ल) राजाका जामाता था और उसने पुनः शकोंको उज्जैनीसे भगाकर 'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण की थी। इस प्रकार 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी राजा आन्ध्रवंशमें दो हुए थे।[1] जैन लेखकने कुन्तलको गर्दभिल्लका जमाता जानकर पहले विक्रमादित्यको भ्रमसे उसका पुत्र लिख दिया प्रतीत होता है। इस दशामें पहले विक्रमादित्य अर्थात गौतमीपुत्र शातकर्णि जैन शास्त्रोंको विक्रमादित्य प्रगट होते हैं!

"आवश्यकसूत्रभाष्य" से स्पष्ट है कि गौतमीपुत्रने नहपान शकको परास्त कर दिया था। उधर गौतमी पुत्र और ऋषभदत्तके शिलालेखों तथा नहपानके सिक्कोंसे प्रमाणित है कि गौतमी पुत्रने नहपानको मालवा, सौराष्ट्र आदि देशोंको शकोंसे मुक्त करदिया था।[2] यह घटना ई० पू० ५८ की है। जैन शास्त्र भी विक्रमादित्यको

१—जविओसो०, भा० १६ पृ० २५१—२७८. २—जविओसो०, भा० १६ पृ० २५१।

'शकारि' और उसे ई० पू० ५८ में उनपर विजय प्राप्त करते लिखते हैं। जैन ग्रन्थोंसे यह भी प्रकट है कि जब विक्रमादित्य इस असार संसारको छोड़गये तो उनके पुत्र विक्रम चरित्र अथवा धर्मादित्यने ४० वर्षोंतक मालवापर राज्य किया। धर्मादित्यके पुत्र भैल्यने ११ वर्षतक उस देशपर शासन किशा। उपरांत नैल्यने १४ वर्षतक राज्यकिया। नैल्यका उत्तराधिकारी नहड़ वा नहद हुआ, जिसने १० वर्ष राज्य किया। उसीके समयमें सुवर्णगिरि (शिखिर सम्मेदजी) पर भगवान महावीरजीका एक विशाल मंदिर निर्माण हुआ था।[1] इन नामोंमें 'धर्मादित्य' उपाधि प्रकट होती है, और विक्रमचरित्र कुंतलशातकर्णि (विक्रमादित्य द्वितीय) के अपरनाम[2] 'विवमशील' (चरित्र-शील) का द्योतक है।

कुंतलके समयमें शकोंद्वारा धर्मका विध्वंश पुनः होने लगा था। उसने शकोंको मार भगाकर धर्मरक्षा की थी। इसी लिये उसको 'धर्मादित्य' कहा गया है। किन्तु वह गौतमी पुत्रका उत्तराधिकारी न होकर उसके बाद उस वंशमें उतना ही प्रख्यात राजा था। गौतमीपुत्रका उत्तराधिकारी श्री विल्व पुलोमयि प्रथम था। उक्त नामोंमें 'भैल्य' को विल्व=(भिल्व भैल्य) का अपभ्रंश कह सक्ते हैं; किन्तु शेष दो नामोंका पता आन्ध्रवंशावलीमें लगाना कठिन है। 'नहद' संभवतः स्कन्दस्वातिका द्योतक हो।[3] जो हो, यह स्पष्ट है कि जैन लेखकने क्रमवार और ठीक नामोंसे विक्रमादित्यके उत्तरा-

१–जैसिभा० भा० १ किरण २–३ पृ० ३०। २–जविओसो०, भा० १६ पृ० २०६। ३–जविओसो० भा० १६ पृ० २७५–२७९।

धिकारियोंका उल्लेख नहीं किया है; यद्यपि वह आन्ध्रवंशके राजाओंका ही उल्लेख करता प्रतीत होता है।

विक्रमादित्य व जैनधर्म।

गौतमीपुत्र शातकर्णिने अपने राज्याभिषेकके १८ वें वर्षमें शकोंको परास्त किया था। उस समय अर्थात् ई० पू० ५८ में उनकी अवस्था ४२ वर्षकी थी। आंध्र राज्यका भार उनपर ही बाल्यावस्थासे—जन्मसे ही आन पड़ा था। चौबीस वर्षकी आयु प्राप्तकर लेनेपर पुरातन प्रथाके अनुसार उनका राज्याभिषेक हुआ था। इन चौबीस वर्षोंमें उनके नामपर राजमाता गौतमीने, शिवाजीकी माता जीजाबाईके समान, राजकाज किया था। उनका कुल राज्यकाल ५६ वर्ष था। ई० पू० ४४ में वह इस संसारको छोड़ गये थे। जैनोंकी पट्टावलियोंमें जो वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमादित्यका जन्म हुआ लिखा है तथा वीर निर्वाण संवत् विक्रम संवतके आरम्भसे ४७० वर्ष पहले वीर निर्वाण हुआ मानकर प्रचलित है, उस १८ वर्षके अंतरका कारण मम० जायसवाल यही प्रगट करते हैं कि एक गणना गौतमी पुत्र शा० के जन्मसे राज्य करने (विक्रमका जन्म होने) की द्योतक है और दूसरी जिसके अनुसार वीर निर्वाण प्रचलित है उनकी शक विजयसे गिनी गई है; जिसकी स्मृतिमें वह संवत चला था, जो विक्रम संवतके नामसे प्रचलित है, उसमें इस बातका ध्यान नहीं रक्खा गया है कि वह घटना गौतमी पुत्र विक्रमादित्यके राज्यकालके १८ वर्षकी है। जैनोंके इस मतभेदसे भी विक्रमादित्यका गौतमी पुत्र शातकर्णि होना

प्रमाणित है।[1] विक्रमादित्य अपने आरम्भिक जीवनमें ब्राह्मणधर्मके अनुयायी थे, किंतु शेष जीवन उन्होंने एक जैन गृहस्थ श्रावकके समान व्यतीत किया था।[2] जैन ग्रन्थोंमें उनका वर्णन खूब मिलता है। 'वैताल पंचविंशतिका' 'सिंहासन द्वात्रिंशतिका' 'विक्रम प्रबन्ध' आदि ग्रन्थोंमें उनके चारित्रको प्रगट करनेवाली कथायें मिलती हैं। सचमुच वह एक आदर्श जैन गृहस्थ, महान शासक और विद्या-रसिक राजा थे। उनके समयमें विद्या और कलाकी विशेष उन्नति हुई थी।

विक्रम-सम्वत्।

कहा जाता है कि विक्रमादित्यने अपनी शक विजयकी स्मृतिमें ई० पू० ५८ से एक संवत् भी चलाया था और उस विक्रम संवत्का प्रचार जैनोंमें और उनके द्वारा विशेष हुआ था। किन्तु इतिहाससे पता चलता है कि यह जनश्रुति तथ्यपूर्ण नहीं है; क्योंकि गौतमीपुत्र शातकर्णि, जो विक्रमादित्य प्रमाणित होता है, ने अपने शिलालेखोंमें संवत् न लिखकर अशोक आदि प्राचीन राजाओंके समान अपने राज्यके वर्ष लिखे हैं तथा मालवा और राजपूतानासे ऐसे सिक्के ई० पू० प्रथम शताब्दिके मिले हैं, जिनसे मालवगण द्वारा उक्त संवतका प्रचलित होना प्रमाणित है। उन सिक्कोंमें 'मालवगणकी किसी महान् विजय' का उल्लेख है ('मालवानां जय'--'मालवगणस्य जय') यह मालवगण राज्य तब पूर्वीय राजपूतानामें स्थित था। मालूम होता है जिस समय गौतमीपुत्र शातकर्णिने मालवा

१-जविओसो० भा० १६ पृ० २९३-२९४।
२-जैन पट्टावली और विक्रम प्रबंध देखो।

और सौराष्ट्रकी ओर शकोंपर चढ़ाई की थी, उस समय उक्त गणने उसमें गहरा भाग लिया था और विक्रमादित्यकी महान विजयको अपनी विजय समझकर उसकी स्मृतिमें उक्त सिक्के ढाले थे। उन्होंने इस महान विजयके उपलक्षमें संवत भी चलाया, जिसका प्रचार राजपूताना और मालवाके लोगोंमें होगया। वही कालान्तरमें विक्रम संवतके नामसे प्रसिद्ध होगया।

विक्रम संवत् व वीर संवत्।

विक्रम संवत्की उत्पत्ति उक्त प्रकार हुई स्वीकार करनेसे, जिसका स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है, जैनोंमें प्रचलित विक्रम संवत् विषयक मान्यता अपना वहुत कुछ महत्व खो बैठती है, क्योंकि यह स्पष्ट होजाता है कि विक्रम संवत् न तो विक्रमादित्यके राज्यारोहण कालसे हुआ और न वह उसकी मृत्युका स्मारक है। हां, जैनोंकी तद्विषयक मान्यतामें ऐतिहासिक तथ्यांश अवश्य है; क्योंकि वह इस बातकी द्योतक है कि विक्रमादित्यपर राज्यभार जन्मते ही आगया था और अपने राज्यके १८वें वर्ष ई० पूर्व ५८में उन्होंने शक विजय की थी, जैसे कि लिखा जाचुका है। उधर विक्रम विषयक जो जैन उल्लेख उपलब्ध हैं उन सबमें यही कहा गया है कि वीरनिर्वाणसे ४७० बाद विक्रमराजा हुआ और किन्हीं गाथाओंमें स्पष्टतः उनका जन्म लिखा है। और यह निश्चित है कि विक्रम संवत् ई० पू० ५८से विक्रमादित्य (गौतमीपुत्र शातकर्णि) की शकविजय विषयक घटनाके स्मारकरूपमें चला है। अतएव विक्रम संवत्से ४७० वर्ष पूर्व वीर-

१–ज० बिओसो, भा० १६ पृष्ठ २९१–२९४.

निर्वाण हुआ मानना ठीक नहीं है। यह समय इसके राजा होनेका मानना ठीक है। मम. जायसवालजी, जैन और हिन्दू पुराणोंकी गणनाके आधारसे उसे ई० पूर्व ५४५में अर्थात् विक्रम संवत्से ४८८ वर्ष पूर्व सिद्ध करते हैं।[१] 'हरिवंशपुराण'में श्री जिनसेनाचार्यने नहपानशकके राज्यकालका अन्तिम समय वीर निर्वाणसे ४८७ वां वर्ष लिखा है[२] और यह लिखा ही जाचुका है कि विक्रमादित्य गौतमीपुत्रने ई० पूर्व ५८में नहपानको परास्त करके उसके राज्यका अन्त करदिया था। अतः जिनसेनाचार्यके मतानुसार भी विक्रम संवत्से ४८७–४८८ वर्ष पूर्व वीरनिर्वाण हुआ प्रगट है। हम अन्यत्र इस ही मतको स्वतन्त्ररूपमें सिद्ध कर चुके हैं। फलतः वीर निर्वाणका शुद्ध रूप ई० पूर्व ५४५ मानना ठीक है।

१–जविओसो० भा० १ पृ० ९९–१०५ व भा० १३ पृ० २४५.

२–"वीरनिर्वाणकाले च पालकोऽत्राभिषिक्ष्यते। लोकेऽवंतिसुतो राजा प्रजानां प्रतिपालकः॥ षष्ठिर्वर्षाणि तद्राज्यं ततो विजयभूभुजां॥ शतं च पंच पंचाशत् वर्षाणि तदुदीरितं॥ चत्वारिंशत् पुरूढानां भूमंडलमखंडितं। त्रिंशत्तु पुष्यमित्राणां षष्ठिर्वस्वग्निमित्रयोः॥ शतं रासभराजानां नरवाहनमप्यतः। चत्वारिंशत्ततो द्वाभ्यां चत्वारिंच्छतद्वयं॥ भट्टवाणस्य तद्राज्यं गुप्तानां च शतद्वयं। एकविंशच्च वर्षाणि कालविद्भिरुदाहृतं॥"

"हरिवंशपुराण" के उक्त श्लोकोंके अनुसार वीरनिर्वाणके समय अवंतिके सिंहासन पर पालक राजाका अभिषेक हुआ था। उस वंशने ६० वर्ष, विजय (नंद) वंशने १५५ वर्ष, पुरूढ वंशने ४० वर्ष, पुष्यमित्रने ३०, वसुमित्र अग्निमित्रने ६०, रासभ (गर्दभिल्ल) वंशने १००, नरवाहनने ४२; भट्टवाण (आन्ध्रभृत्य) ने २४२ और गुप्तवंशने २२१ वर्ष राज्य किया। नरवाहन, जो नहपानका द्योतक है,

दिगम्बर और श्वेतांबर संघ-भेद।

ईसवी प्रथम शताब्दिसे किंचित् पूर्वसे जैन संघकी दशा विचित्र हो रही थी। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि सम्राट् चन्द्रगुप्तके समयमें जैनसंघमें मतभेद उपस्थित होगया था। और नये दलकी क्षीणधारा बल संचय करती हुई प्रथक रूपसे चलरही थी। स्थूलभद्रके बाद इस नई धारामें आर्यमहागिरि, आर्यसुहस्तिसूरि, सुस्थितसूरि, इंद्रदिन्नसूरि (कालकाचार्य), प्रियग्रंथसूरि, वृद्धवादिसूरि, दिन्नसूरि, सिंहगिरि, वज्रस्वामी आदि अनेक आचार्य हुये; जिनकी वंशपरम्परा आजतक श्वेतांबर

कुल ४८८ वर्ष होती हैं। श्वेताम्बरोंके तपागच्छकी पट्टावलीमें भी लगभग यही गणना लिखी गई है; जैसे कि निम्न कोष्टकके रूपमें मम० जायसवालजीने प्रगट की है:—

श्वे० पट्टावली		हरिवंशपुराण	
पालक.......वर्ष	६०	पालक.......वर्ष	६०
नन्दवंश	१५५	विजयवंश	१५५
मौर्यवंश	१०८	पुरुढ़वंश	४०
पुष्यमित्र	३०	पुष्यमित्र	३०
बलमित्र-भानुमित्र	६०	वसुमित्र-अग्निमित्र	६०
नहवान...........	४०	रासभ (गर्दभिल्ल)	१००
गर्दभिल्ल...........	१३	नरवाहन	४२
शक...............	४	जोड़	४८७
(विक्रमके राज्याभिषेक होनेतक १८ की वर्ष)			
जोड़	४८८		

सम्प्रदायमें चली आरही है।[१] इनमेंसे आर्यमहागिरिने नई धाराको पुनः प्राचीन मार्गपर लेआनेके प्रयत्न किये थे। वह जिनकल्पी (नग्न) साधु थे और उन्होंने इस बातको स्वीकार किया था कि स्थूलभद्र द्वारा अनेक बातें धर्मके विरुद्ध प्रचलित होगई हैं। किंतु वह अपने सद्प्रयासमें असफल रहे।[२] भला वह नया संघ कैसे इन साधुमहात्माकी बात मानसक्ता था, जिसने श्रुतकेवली भद्रबाहुको संघ बाह्यसा करदिया था। उपरोक्त गणनामें सर्व अंतिम वज्रस्वामीका समय सन् ७१ ई० है। इनके समयमें रोहगुप्त नामक जैन साधुने एक मतभेद उपस्थित किया था। इनके शिष्य कनाढ़ द्वारा वैशेशिक दर्शनकी उत्पत्ति हुई थी।[३]

वज्रस्वामीके उत्तराधिकारी वज्रसेन हुये और इनके समयमें दिगम्बर और श्वेतांबर भेद बिल्कुल स्पष्ट होगया था।[४] मौर्यकालकी क्षीणधारा इतनी वेगवती होगई थी कि वह पुरातन धाराके सम्मुख आडटी ! श्वेतांबर कहते हैं कि रथवीरपुरके राजाका एक नौकर मुनि होगया था। इसका नाम शिवभूति हुआ। राजाने इन्हें कीमती कम्बल भेंट किया; जिसे उनने स्वीकार कर लिया। किंतु उनके

१–जैसा सं०, भा० १, वीर वंशावलि, पृ० ८–११

२–हॉजै० पृ० ७२ Mahagiri's rule is also noteworthy for his 'endeavours to bring the community back to their primitive faith and practice. He was a real ascetic and recognised that under Shulbhadra's sway many abuses had crept in to the order."–Heart of jainism. P. 72.

३–हॉजै० पृ० ७८ व जैसा सं० भा० १ वीर वंशा० पृ० १३।

४–हॉजै०, पृ० ७९।

गुरुने शिवभूतिका कम्बलसे विशेष मोह देखा तो उसे फाडकर फेंक दिया। शिवभूति नाराज होगया और नग्न रहने लगा। इसके दो शिष्य कौन्डिन्य और कट्टवीर हुये। इसकी वहिन उत्तराने भी साधु होना चाहा, परन्तु स्त्रीके लिये नग्न रहना असंभव जानकर शिवभूतिने उसे साधु दीक्षा नहीं दी और घोषणा करदी कि कोई जीव स्त्री भवसे मोक्ष नहीं जासकता! श्वेतांवरोंकी इस कथामें कुछ भी ऐतिहासिक तथ्य नहीं है; क्योंकि बौद्ध ग्रन्थोंके आधारसे सिद्ध किया जा चुका है कि जैन मुनियोंका प्राचीन भेष नग्न (दिगंवर) था और यह वात स्वयं श्वेतांवरोंके आर्य महागिरि विषयक उपरोक्त कथनसे भी स्पष्ट है। अतएव इस कथामें केवल इतनी बात तथ्यपूर्ण है कि जैन संघमें दिगम्बर और श्वेतांवर भेद इस समय पूर्ण प्रगट होगया था।

दि० जैन संघ व उसके प्रभेद।

दिगंवर संप्रदायकी मान्यताके अनुसार हम देख चुके हैं कि सम्राट् खारवेलके पश्चात् नक्षत्र आदि आचार्य ग्यारह अंगके धारी हुये थे। इनके बाद सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोह ये चार आचार्य आचाराङ्गके धारक हुए। शेष कुछ आचार्य ग्यारह अंग चौदह पूर्वके एक अंशके ज्ञाता थे और ये सब ११८ वर्षमें हुऐ थे।[1] इस प्रकार भगवान् महावीरजीके निर्वाण उपरांत ६८३ वर्षमें द्वादशांग वाणीका ज्ञान करीब२ बिलकुल लुप्त होगया; अर्थात् सन् १३८ में अंग पूर्वोंका ज्ञान आंशिकरूपमें शेष रहा था। इस समयसे किंचित् पहले श्री धरसेनाचार्य हुये थे;

१–तिलोयपण्णत्ति, गा० ८०–८२, जैहि० भा० १३ पृ० ५३२।

जिनके निकटसे नहपान राजाने जैन मुनि होकर पट्खण्डागम ग्रन्थकी रचना करके उसे ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीके दिन अंकलेश्वर (भड़ौच) में लिपिवद्ध किया था। इसी कारण यह पवित्र दिन "श्रुतावतार" के नामसे प्रसिद्ध है। श्रीधरसेनाचार्य गिरनारकी चंद्र-गुफामें विराजमान थे। वहींपर नहपान राजर्षि (भूतवलि मुनि) और सुबुद्धि श्रेष्ठी (पुष्पदन्त मुनि) ने उनसे शास्त्र ज्ञान प्राप्त किया था। ये दोनों ऋषि उस समय वेणातटकपुरके जैन संघमें निवास ही करते थे। गिरनारसे ये दोनों ऋषि कुरीश्वर देशमें पहुंचे थे और वहांपर इन्होंने चातुर्मास किया था। पश्चात् दक्षिण भारतकी ओर इनका विहार हुआ था। पुष्पदन्त मुनि अपने भानजे जिन पालितको मुनि वनाकर दक्षिणके वनवास देशको चले गये थे और भूतवलि मुनि दक्षिण मथुराको प्रस्थान कर गये थे। इसी जिन पालितके निमित्तसे पट्खण्डागम ग्रन्थकी रचना हुई थी।[1]

श्री इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार कथाके अनुसार इस घटनाके पहले जैनसंघ नन्दि, देव, सेन, वीर (सिंह) और भद्र नामक संघोंमें विभक्त होगया था। ये विभाग श्री अर्हद्वलि आचार्य द्वारा किये गये थे। इनमें कोई सिद्धांत भेद नहीं हैं।[2] किन्तु श्रवणवेलगुलके शिलालेख नं० १०८ से प्रगट है कि अकलंकस्वामीके स्वर्गवासके पश्चात् संघ देशभेदसे 'सेन', 'नंदि', 'देव' और 'सिंह' इन चार भेदोंमें विभाजित हुआ था। श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार प्रगट

१-श्रुतावतार कथा, पृ० १६-२०

२-जैशिसं० भूमिका, पृ० १४९

करते हैं कि 'अकलंकसे पहलेके साहित्यमें इन चार प्रकारके संघोंका कोई उल्लेख भी अभीतक देखनेमें नहीं आया, जिससे इस (शि० नं० १०८ के) कथनके सत्य होनेकी बहुत कुछ सम्भावना पाई जाती है।'[१]

संभव है मुख्तार सा०का यह अनुमान ठीक हो; किंतु कुशानकालके कौशाम्बीवाले लेखमें एक आचार्यका नाम शिवनंदि है और यह 'नंदि' विशेषण युक्त है।[२] श्वेताम्बर संप्रदायमें भी इसी समयके लगभग अर्थात् वीर निर्वाणाब्दसे ५८२ वर्ष बाद (१) नागिन्द्र, (२) चंद्र, (३) निर्वृति और (४) विद्याधर नामक चार शाखायें प्रगट हुई थीं; जिनसे ही उपरान्त ८४ गच्छ निकले थे।[३] अतएव अर्हद्बलि आचार्यके समयमें ही दिगम्बर जैन संघ चार भागोंमें विभक्त हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं! अर्हद्बलिको श्री गुप्तिगुप्त और विशाखाचार्य भी कहते हैं—श्री अर्हद्बलि, माघनंदि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि, ये सब प्रायः एक ही समयके विद्वान् प्रतीत होते हैं।[४]

बलात्कारगणकी उत्पत्तिके विषयमें कुछ ज्ञात नहीं है। डॉ० हॉर्णले अनुमान करते हैं कि अर्हद्बलिके नाम अपेक्षा ही इस गणकी उत्पत्ति हुई है।[५] नंदिगण, देशीगण और बलात्कारगण परस्पर अभिन्न हैं।[६] गणभेद जैन संघमें भगवान महावीरजीके समयसे

१–रश्रा०, जीवनी पृ० १८१। २–संप्राजैस्मा० पृ० २९। ३–जैसा सं०, भा० १, वीरवंशावलि, पृ० १९। ४–रश्रा०, जीवनी, पृ० १८७। ५–इंऐ०, भा० २०, पृ० ३४२। ६–जैशि० सं०, भूमिका पृ० १४६।

विद्यमान था । उपरान्त इस गणके अनेक भेद देश अथवा आचार्य-परम्पराको लक्ष्य करके होगये हैं । उदाहरणतः 'देशीगण'को ले लीजिये । 'बाहुबलिचरित्र' में इस गणके आचार्योंकी प्रसिद्धि देश देशान्तरों (देशदेशनिकरे) में होनेके कारण इसका नाम देशीगण पड़ा बतलाया है; किंतु मि० गोविन्दपै इस व्याख्याको स्वीकार नहीं करते हैं । वह कहते हैं कि दक्षिण भारतके पश्चिमीयघाट, बालाघाट, कर्णाटक और गोदावरी नदीका मध्यवर्ती प्रदेश 'देश' नामसे प्रसिद्ध है और वहांके ब्राह्मण आज भी 'देशस्थ ब्राह्मण' कहलाते हैं ।[3] अतः नंदिसंघके आचार्योंका केंद्र इस देश नामक प्रदेशमें रहनेके कारण 'देशीयगण' के नामसे विख्यात हुआ उचित जंचता है । 'पुन्नाट गण' पुन्नाट देशकी अपेक्षा प्रसिद्ध हुआ मिलता ही है । इस प्रकार प्राचीन आचार्य परम्परा आजतक दि० जैनोंमें भी चली आरही है । जब सन् ८०-८१ ई० में जैन संघ दिगंबर और श्वेतांबर इन दो संप्रदायोंमें विभक्त होगया; तब दि० सम्प्रदाय 'मूलसंघ' (Real Saugha) के नामसे प्रसिद्ध हुआ; क्योंकि उसकी मान्यतायें प्राचीन जैनधर्मके अनुसार थीं । किंतु इस नामकरणकी तिथि बतलाना कठिन है ।

अब दिगम्बर जैन दृष्टिसे भी संघ भेदपर एक नजर डालिये ।

१-बौद्धोंके 'दीर्घनिकाय' (१४८-४९) में भगवान महावीरको गणाचार्य लिखा है । गणधरोंके अस्तित्वसे गणका होना स्वतः सिद्ध है ।

२-द्रव्य संग्रह (S. B. J., Vol. I.) भूमिका पृ० ३० ।

३-'महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष', भा० १९-'देश' लेख देखो ।

श्री देवसेनाचार्यजीके " दर्शनसार "

दि० मतानुसार श्वे० संप्रदायकी उत्पत्ति। ग्रन्थके अनुसार विक्रम संवत १३६ में श्वेतांवर संप्रदायकी उत्पत्ति हुई प्रमाणित है।[1] सोरठ देशकी वलभी नगरीमें यह संप्रदाय उत्पन्न हुआ था। किन्तु भट्टारक रत्ननंदिके 'भद्रबाहु चरित्र' एवं श्रवणबेलगोलके शिलालेखों तथा श्वेतांवरोंकी मान्यताओंसे प्रगट है, जैसे कि हम देख चुके हैं कि जैनसंघमें भद्रबाहुजी श्रुतकेवलीके समय ही भेद पड़ गये थे। बौद्ध ग्रंथोंसे भी जैनसंघका भगवान् महावीरके उपरांत विभक्त होना सिद्ध[2] है। ये बौद्ध ग्रंथ सम्राट् अशोकके समय संशोधित और निर्णित हुये थे। अतएव सम्राट् चंद्रगुप्तके समयमें जैन संघमें भेद पड़ा देखकर उन्होंने उक्त प्रकार उल्लेख किया है। इस दशामें देवसेनाचार्यका सं० १३६ (सन् ८०-८१) में श्वेतांवरोंकी उत्पत्ति होना बताना कुछ उचित नहीं जंचती; किन्तु उनका यह कथन तथ्यपूर्ण है।

श्वेतांवर भी दिगम्बर संप्रदायकी ओरसे उपस्थितकी जानेवाली गाथाके समान ही एक गाथा द्वारा दिगम्बरोंकी उत्पत्ति लगभग इसी समय प्रगट करते हैं। उसपर भट्टारक रत्ननंदिके 'भद्रबाहु चरित्र'

१-छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरण पत्तस्स। सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो॥ ११॥-दर्शनसारः। २-दीनि० ३ पृ० ११७-११८, मनि० भा० २ पृ० १४३ व भमबु० पृ० २१४। ३-"छव्वास सहस्सेहिं नवुत्तरेहिं सिद्धिं गवस्स वीरस्स। तो बोडियाण दिट्ठी रहवीरपुरे समुपन्ना॥" किन्तु श्वेतांबरोंकी यह प्रमाणभूत गाथा दिगम्बर ग्रन्थकी निम्न गाथाका रूपांतर प्रतीत होता है।

से प्रगट है कि भद्रबाहु स्वामीके समय संघ भेद उपस्थित हुआ, तब क्षीण रूपमें प्राचीन निर्ग्रंथ संघसे एक शाखा अलग होगई थी और वह अपने सिद्धांत ग्रन्थ आदि ठीक करनेमें व्यग्र रही थी। वह 'अर्द्धफालक' संप्रदाय थी और इसके साधु खण्ड वस्त्र ग्रहण करते थे। श्वेतांबरोंका पूर्वज यह 'अर्द्धफालक' संप्रदाय था। कतिपय विद्वान् 'अर्द्धफालक' संप्रदायका अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं; किन्तु मथुराके पुरातत्वसे इस सम्प्रदायका अस्तित्व प्रमाणित होता है। मथुराका प्लेट नं० १७ एक तोरण स्तम्भका चित्र है। इसमें एक जैन साधु सवस्त्र दिखाया गया है।[1] इसी प्रकार एक पद्मासनस्थ जैन मूर्ति सारे शरीरपर वस्त्र पहरे हुए प्लेट नं० १६के चित्रमें दर्शाई गई है।[2] नं० १७ वाली प्लेटमें दूसरी ओर जो दृश्य अङ्कित है, वह अर्द्धफालक सम्प्रदायके अस्तित्वकी प्रमाणिक साक्षी है। उसके ऊपरके अंशमें एक स्तूप है और उसके दोनों ओर दो दो तीर्थंकर हैं। नीचेके अंशमें एक मुनि हाथकी कलाईपर कपड़ा डाले हुये खड़े हैं। उनका सीधा हाथ कंधेकी ओर उठा हुआ है; जिसमें

क्योंकि स्वयं श्वेतांबराचार्य जिनेश्वरसूरिने दिगम्बरोंके इस गाथाका उल्लेख किया है:—"छव्वास सएहिं न उत्तरेहिं तत्था सिद्धि गयस्स वीरस्स। कंवलियाणं दिट्ठी बलही पुरिए समुप्पण्णा॥" जैहि० भा० १२ पृ० ४००।

१—जैस्तूप० पृ० २४। २—जैस्तूप० पृ० ४१। श्वेतांबर शास्त्र अपनी मूर्तियोंमें वस्त्र चिन्ह अंकित करना बतलाते हैं। उनमें मूर्तियोंको वस्त्राच्छादित बनानेका विधान हमारे देखनेमें नहीं आया। भूमूर्तिको वस्त्रालँकारसेषित करनेकी प्रथा श्वेतांबरोंमें अर्वाचीन है।

पीछी है उनका नाम 'कन्ह' लिखा हुआ है। इसपर कुशन सं० ९५ का एक लेख है जिसमें कोटियगण थानियकुल और वैरशाखाके आर्य अरहका उल्लेख है। इन गणादिका पता संभवतः श्वेतांबरोंकी स्थिविरावलीमें लगता है। इस दशामें 'अर्धफालक' संप्रदायको श्वेतांबरोंका पूर्वज मानना अनुचित नहीं है।

इस पटके मुनि अर्धफालक सम्प्रदायके मालूम होते हैं, क्योंकि इनके पास कपड़ेका 'केवल एक टुकड़ा' (खंडवस्त्र) ही है। और यह चित्र है भी उस समयका जब श्वेतांबर और दिगंबर भेद पूर्णतः व्यक्त होनेके सन्निकट था। ऐसे समयमें जैन संघमें एक महा क्रान्तिसी उपस्थित हुई प्रतीत होती है। यही कारण है कि नं० १६ व नं० १७ के प्लेटोंमें सवस्त्रधारी मूर्ति और साधुतक दर्शाये गये हैं। मालूम ऐसा होता है कि मौर्यकालसे ईसवी सन्‌के प्रारम्भिक समयतकके अन्तरालमें वह शाखा जो प्राचीन निर्ग्रंथ (नग्न) संघसे अलग हुई थी, इतनी बलवान होगई थी कि वह अब तीर्थों और मूर्तियोंपर भी अपना अधिकार स्थापित करनेकी चेष्टा करने लगी थी। भगवान् कुंदकुंदाचार्य इसी समय हुये थे और उनके वक्तव्योंसे स्पष्ट है कि उनके समयमें अवश्य ही जैन मुनि वस्त्र धारण करने लगे थे, अपने मन्तव्यको पुष्ट करनेवाले ग्रन्थ रचने लगे थे और मूर्ति आदिके लिये झगड़ने लगे थे। आचार्य महाराजने तिलतुषमात्र परिग्रह रहित दिगंबर मुनिको ही चैत्यग्रह बतलाया है। उन्होंने लोगोंका ध्यान व्यवहारकी ओरसे हटानेका प्रयत्न किया था; क्योंकि उसमें निवृत्ति मार्गके उपासक साधु लोग भी बुरी तरह फंस

गये थे। दिगम्बर और श्वेतांबर[2], दोनों संप्रदायोंके ग्रंथोंसे प्रकट है कि इस कालके लगभग तीर्थोंके संबन्धमें दोनों संप्रदायोंमें झगड़ा हुआ था। कुंदकुंदाचार्यने उज्जयंत (गिरिनार) पर सरस्वतीकी पाषाण मूर्तिको वाचाल करके नग्न रहनेवाले निर्ग्रंथ साधुओंके पक्षको सबल बनाया था[3]।

श्वेतांबरोंके पूर्वज (Fore runners) प्राचीन मूर्तियोंकी आकृतियोंको नहीं बदल पाये थे अर्थात् इस समयतक जैन मूर्तियां बिलकुल वस्त्र चिह्न रहित नग्न बनाई जाती थीं; जैसे कि मथुरा और खण्डगिरिकी गुफाओंवाली प्राचीन मूर्तियोंसे प्रमाणित है। प्राचीन मूर्तियोंको भले ही श्वेतांबर बदलनेमें असमर्थ रहे हों; किंतु उन्होंने नवीन मूर्तियोंको वस्त्र चिह्नाङ्कित बनाना प्रारम्भ कर दिया था, इसमें संशय नहीं।[4] जैन संघमें हुई इस क्रांतिका कटु परिणाम यह निकला कि वि० सं० १३६ (सन् ८० ई०)में दिगंबर और श्वेतांबर संप्रदायोंकी जड़ खूब पुख्ता जम गई और उनमें आपसी विरोध पड़ गया। भद्रबाहु द्वितीय संभवतः इस समय दि० सम्प्रदायके अध्यक्ष थे।[5]

तत्कालीन जैनधर्म। उपरोक्त वर्णनसे स्पष्ट है कि भगवान् महावीरजीके निर्वाण कालसे लेकर ईसवी सन्के प्रारंभिक कालतकके समयमें जैनधर्ममें बड़ा अंतर पड़ गया था। द्वादशांगवाणी बिलकुल लुप्त होगई थी। उसके स्थानपर नये २ ग्रन्थ आचार्यों द्वारा रचे जाने लगे थे। उधर

१–विशेषके लिये देखो 'वीर' वर्ष ४ पृ० ३०४–३०९।
२–'प्रवचन परीक्षा' प्रकरण १–जैहि० भा० १३ पृ० २८९।
३–इंऐ०, भा० २० पृ० ३४२। ४–जैहि०, भा० १३ पृ० २९०।
५–इंऐ०, भा० २० पृ० ३४२–३४३।

श्वेतांवर संप्रदायमें अपने मनोनीत ढंगपर द्वादशांगवाणीका पुनरुद्धार किया गया था। जिन प्रतिमाओंका रूप भी इस संप्रदायने वदल दिया था। श्वेतांवर साधु वस्त्र धारण करने लगे थे। इन मान्यताओंको लक्ष्य करके श्वेतांवर संप्रदायमें वस्त्र सहित अवस्थासे भी मोक्ष प्राप्त कर लेना विधेय ठहराया गया था। स्त्री मुक्ति, केवली कवलहार आदि वातें भी स्वीकार की गई थीं। किन्तु दिगम्वर सम्प्रदायमें प्राचीन मान्यताओंको ही स्थान मिला रहा और इस संप्रदायके अनुयायियोंमें तवतक पुरातन रीतिरिवाजोंकी मान्यता रही; यद्यपि दिगम्वर संघ भी चार भागोंमें विभक्त होगया था और ग्रहस्थोंमें भी अनेक उपजातियां उत्पन्न होगई थीं।

अव भी दिगम्वर जैन धर्मका द्वार प्रत्येक प्राणीके लिये खुला हुआ था। जिस प्रकार भगवान महावीरजीके समयमें विदेशियों और चोर, डाकुओंके समान पतित लोगोंको उनके धर्ममें शरण मिली थी; वैसे ही इसकाल अर्थात् ई० सन्‌के प्रारम्भमें भी शकोंके सदृश विदेशी लोगों और वेश्यायों जैसे पतित व्यक्तियोंको जैन रीत्यानुसार धर्माराधन करनेका अवसर मिला था। नहपान राजा विदेशी शक जातिका था, पर तो भी जैनमुनि होकर उन्होंने हमें द्वादशाङ्ग वाणीका आंशिक ज्ञान कराकर वड़ा उपकार किया है। देवसंघके जैनमुनियोंने देवदत्ता नामक वेश्याके घरमें चातुर्मास व्यतित करके जैन धर्मके पतित पावन रूपको स्पष्ट कर दिया था। इतना ही क्यों?

१–इंऐ, भा० २० पृ० ३४६ 'यो देवदत्ता वेश्यागृहे वर्षायोगो स्थापितवान् सहदेवसंघश्चकार ॥४॥'

मथुराके पुरातत्वसे नर्तक लोगों, रंगरेजों और गणिकाओं द्वारा अर्हत् भगवानकी पूजाके लिये जिन मंदिर आदि बननेका पता चलता है ।[१]

ये सब बातें उस समय भी जैन धर्मके व्यापक रूपकी द्योतक हैं । साथ ही श्रावकोंमें परस्पर प्रेम व्यवहारका अभाव नहीं था । उनमें परस्पर सामाजिक व्यवहार होता था । एक वणिकका विवाह क्षत्रियाणी साधर्मीके साथ होनेका उदाहरण मिलता है ।[२] उपजातियोंमें परस्पर विवाहसम्बन्ध तो बारहवीं—तेरहवीं शताब्दि तक होते रहे थे; जैसे कि आबूपरके वस्तुपालवाले शिलालेखसे प्रगट है ।[३] उपजातियोंका जन्म यद्यपि इस समय होगया था; किंतु उनको विशेष महत्व प्राप्त नहीं था । शिलालेखों और शास्त्रोंमें उनका उल्लेख ' वणिक ' या ' वैश्य ' नामसे मिलता है । उनमें परस्पर कुछ भी भेदभाव न था । जिस प्रकार आज एक ही उपजातिके विविध गोत्र ग्रामों अपेक्षा, जैसे काशलीवाल, रपरिया आदि स्वतंत्र रूपमें उल्लिखित होते हुए भी उपजातिसे कुछ भी विरोध नहीं रखते; इसी तरह मालूम होता है, उस समय एक बड़ी वैश्य जातिके अन्तर्गत यह उपजातियां ग्रामादि अपेक्षा अपना प्रथक् नामकरण रखते हुए भी उससे विलग नहीं थीं ।

१–'वीर' वर्ष ४ पृ० ३०२–Mathera jain image inscription of sam: 25 records the gift of Vasu, the wife of a dyer...... इऐं०, भा० ३३ पृ० ३७–३८

२–वीर, वर्ष ४ पृ० ३०१ ३–प्राजैलेसं० पृ० ८७

उपजातियोंकी उत्पत्ति।

जिस समय इस भरतक्षेत्रमें कर्मभूमिका प्रादुर्भाव हुआ था, तब यहांके मनुष्योंमें किसी भी प्रकारकी कोई जाति अथवा वर्णव्यवस्था नहीं थी। जनता कर्मभूमिके कर्तव्योंसे अपरिचित थी और वह भयभीत हुई तत्कालीन राजा ऋषभदेवके सन्निकट सभ्यताकी प्राथमिक शिक्षा ग्रहण कर रही थी इसी समय ऋषभदेवने जनताकी समुचित रक्षा और उन्नतिके भावसे वर्ण अथवा जाति व्यवस्थाको जन्म दिया था। उन्होंने उन पुरुषोंको 'क्षत्रिय' संज्ञासे विभूषित किया, जिनको जनताकी रक्षाके योग्य समझकर यह भार सौंपा गया। इसी प्रकार मनुष्योंकी योग्यताके अनुसार वैश्य और शूद्र नियत हुए। तथापि भरत महाराजने ऋषभदेवजी द्वारा धर्मकी प्रवर्तना होनेपर उपरोक्त तीनों वर्णोंके व्रती पुरुषोंमेंसे ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की थी; जैसे कि प्रथम भागमें लिखा जाचुका है।[1] मूलमें यहांपर इस प्रकार चातुर्वर्णमय व्यवस्था थी। इन चारवर्णोंके साथ विविध कुलोंकी स्थापना भी होगई थी। यह अधिकांश कुटुम्बोंके महापुरुषों अथवा ग्रामोंकी अपेक्षा हुई थी; जैसे राजा अर्ककीर्तिकी अपेक्षा अर्क अथवा सूर्यवंश और यदुकी अपेक्षा यदुवंश विख्यात हुए थे। भगवान महावीरजीके समय तक यह चातुर्वर्ण व्यवस्था समुचित रीतिसे चल रही थी; किंतु उसके उपरांत ये वर्ण अनेक उपजातियोंमें विभक्त होचले थे। जैनाचार्य इंद्रनंदिजी पंचमकालके प्रारंभमें ग्रामादि अपेक्षा इन उपजातियोंका जन्म हुआ लिखते हैं।[2] इतिहासकी स्वाधीन साक्षीसे भी प्रमाणित है

१–सं० जै० इ० भा० १ पृ० ४२ व आदि पुराण, पर्व ३९। २–नीतिसार

कि उपजातियोंकी जड़ बौद्ध कालमें पड़ गई थी[1] और वह गुप्तकालमें आकर पल्लवित हुई थी ![2]

अग्रवाल वैश्य जाति।

अग्रवाल जातिकी उत्पत्ति लगभग इसी समय हुई थी। कहते हैं कि अयोध्याके राजा मानधाताकी ५२ वीं पीढ़ीमें वीर निर्वाणसे ४९८१ वर्ष पूर्व श्री नेमिनाथजीके तीर्थकालमें अग्रसेन नामक राजा थे। उनके पिता महावीर दिगम्बर मुनि होगये थे। उनके मुनि होनेपर राजकुमार अग्रसेनको वीर नि० पूर्व ४९४६ में राजगद्दी मिली थी। सन् ४५२१ वी० नि० पूर्वमें उन्होंने मिश्र देशके जैनधर्मी राजा 'कुरुपविन्दु' पर आक्रमण किया था और इस युद्धमें यह वीर गतिको प्राप्त हुये थे। राजा अग्रसेनने वेदानुयायी पातञ्जलि नामक ऋषिके उपदेशसे अपने पितृधर्म—जैनधर्मका परित्याग कर दिया था। यदि यह पातञ्जलि ऋषि 'पातञ्जलिभाष्य'के कर्ता हैं, तो राजा अग्रसेनका समय भगवान नेमिनाथजीके तीर्थमें होना अशक्य है; परन्तु ऐसा कोई साधन नहीं है जिसके आधारपर उक्त दोनों पातञ्जलि एक माने जावें ! जो हो, इन्हीं राजा अग्रसेनके १८ पुत्र हुये थे। जिस समय इन १८ पुत्रोंकी संतान राजच्युत होगई, तो वह राजा अग्रसेनके नाम अपेक्षा 'अग्रवाल' नामसे प्रसिद्ध हुई। प्राचीन जैन लेखमें इसका उल्लेख 'अग्रोत' वंशके रूपमें हुआ मिलता है। राजा अग्रसेनकी संततिमें कई पीढ़ियोंतक वैदिक धर्मकी मान्यता रही थी। किंतु उपरांत अग्रोहपति राजा दिवाकरदेवके राज्यमें वीर नि० सं० ५१५-५६५के लगभग (वि० सं० २८–७७

१–बुई०, पृ० ५५–५९ २–भाइ०, ९३–९९

के अन्तर्गत) जैनाचार्य श्रीलोहार्यजीके उपदेशसे जैनधर्म फिर इसवंशमें स्थान पागया; जिसे इस जातिके बहुतसे लोग आज भी पालन कर रहे हैं। इस प्रकार अपने क्षत्री धर्मसे च्युत होकर अग्रवाल जाति व्यापार-प्रधान होजानेके कारण वैश्य वर्णमें परिगणित होगई है![1]

खंडेलवालकी उत्पत्ति!

खंडेलवाल जातिकी उत्पत्तिका समय भी करीबर यही है। यह जनश्रुति है कि वि० स० १ में किसी जिनसेन नामक जैनाचार्यने राजपूतानेके खण्डेला नामक ग्रामके राजाको प्रभावित करके जैनधर्ममें दीक्षित किया था। राजाके साथ उसके ८२ ग्रामोंके सरदार भी अपनी प्रजा समेत जैनी होगये थे। इन ८२ ग्रामोंके अतिरिक्त दो ग्रामोंके सुनार (सोनी) भी जैनी हुये थे। जैनाचार्यने इनका उल्लेख 'खंडेलग्राम' की अपेक्षा 'खंडेलवालान्वय' के नामसे किया था। इसी कारण इनकी प्रसिद्धि खण्डेलवाल नामसे हुई है। राजभृष्ट होकर व्यापार करने लगनेके कारण यह जाति भी वैश्योंमें गिनी जाने लगी है। उपरोक्त ८४ ग्रामोंकी अपेक्षा इस जातिमें ८४ गोत्र भी हैं।[2]

ओसवाल जातिका प्रादुर्भाव।

ओसवाल जातिका जन्म भी इसी ढंगपर हुआ कहा जाता है। ईस्वी दूसरी शताब्दिमें किसी जैनाचार्यने ओसिया नामक नगरके निवासी राजपूत लोगोंको जैनधर्मानुयायी बनाया था। इस

१-अग्रवाल इतिहास व वृजैश०, भा० १ पृ० ७१-७२।

२-खण्डेलवाल जैन इतिहास व जैहि०, भा० १ पृ० २२३ और हिवि० भा० ५ पृ० ७१८।

ओसिया नगरको लक्ष्य करके इनका नामकरण 'ओसवाल' होगया है[1]। इनमें अधिकांश लोग अब व्यापार करने लगे हैं। इस कारण यह लोग भी वैश्य माने जाते हैं। अंग्रेजोंके भारतमें अधिकार जमानेके समय तक इनमें बड़े २ योद्धा हो चुके हैं। अब भी कई देशी रियासतोंमें ओसवाल लोग दीवान या मंत्रिपदपर नियुक्त हैं!

लम्बकञ्चुक जातिका जन्म।

लमेचू (लम्बकञ्चुक) जातिका निकास भी लगभग इसी समय हुआ था। पन्द्रहवीं शताब्दिके शिलालेखों एवं[2] पट्टावली आदिसे इस जातिका मूलमें यदुवंशी होना प्रमाणित है। कहा जाता है कि यदुवंशमें एक राजा लोमकरण (या लम्बकर्ण) नामक हुये थे। और वह लम्बकाञ्चन नामक देशमें जाकर राज्य करने लगे थे। उन्हींकी संतान 'लम्बकाञ्चन' नामक देशकी अपेक्षा लम्बकञ्चुक नामसे प्रख्यात हुई थी। इसपरसे श्री० पण्डित झम्मनलालजी तर्कतीर्थ आदि लंबेचू विद्वान् अपनी ज्ञातिका निकास भगवान् नेमिनाथजीके तीर्थमें हुआ अनुमान करते हैं[3] किंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि भगवान् नेमिनाथजीके मोक्ष चले जानेके बाद द्वारिका सब ही यदुवंशियों समेत जलकर भस्म होगई थी। केवल कृष्ण, बलराम और जरतकुमार बचरहे थे। कृष्ण और बलरामकी भी जीवनलीलायें शीघ्र समाप्त होगई थीं। यदुवंशका नाम लेवा मात्र जरत्कुमार रह गया। इस जरत्कुमारकी पट्टरानी कलि-

१–मप्राजैस्मा०, पृ० १९२। २–प्राजैलेसं०, भा० १ पृ० ८३–८४। ३–लंबेचू जातिका परिचय, नामक पुस्तक देखो।

ङ्गराजकी पुत्री थी। जरत्कुमार अपनी ससुरालमें जाकर रहने लगा और वहांपर उसका पुत्र वसुध्वज राज्याधिकारी हुआ था। वसुकी छठी पीढ़ीमें जितशत्रु नामक कलिङ्गका राजा भगवान महावीरजीका समकालीन था और जैन मुनि होगया था; यह पहले लिखा जाचुका है। उसके बाद कलिंङ्ग राज्यका क्या हुआ? यह कुछ पता नहीं चलता। शायद किसी अन्य राजाका वहांपर अधिकार होगया हो। जैन सम्राट् खारवेलके शिलालेखके अनुसार कौशल देशके राजाका कलिङ्गमें आधिपत्य जमना प्रगट है[२]। किंतु बीचमें मगधके नन्द-राज भी वहां कुछ वर्षोंतक राज्याधिकारी रहे थे।

अतः यह निस्सन्देह ठीक प्रतीत होता है कि कलिङ्गमें यदु-वंशी जरत्कुमारके वंशज राजभ्रष्ट होगये थे। मालूम होता है कि वह कलिङ्ग छोड़कर कहीं अन्यत्र चले गये थे। अतः लोमकरण राजा इसी समय हुये होंगे। जरत्कुमारकी संतानमें उनका होना संभावित है; क्योंकि भगवान महावीरजीके समयतक यदुवंशके जो राजा हुए उनमें इस नामका कोई राजा नहीं है[३]। इस अवस्थामें नंदराजद्वारा पराजित होकर कलिङ्गसे निकलनेपर जो राजा इस वंशमें हुए, उनमें ही लोमकरण राजाका होना सुसंगत है। इस अपेक्षा वह ईसवी पूर्व पहली व दूसरी शताब्दिमें हुए अनुमान किये जासकते हैं। उन्हें भगवान नेमिनाथजीके समयमें हुआ मानना ठीक नहीं है। लमेचुओंकी पुरानी पट्टावलियोंमें राजा लोमकरण अथवा लम्बकर्णको

१-हरि० पृ० ५८७-६०२ और ६२३। २-जविओसो० भा० ३ पृ० ४३५-४३८। ३-हरि० पृ० ६२३।

अपना देश छोड़कर लम्वकांचन देशमें राज्य स्थापित करते लिखा है।[1]

यह घटना भी कलिङ्गसे यदुवंशियों (हरिवंशी) के अन्यत्र जानेके उल्लेखसे ठीक बैठती है। किन्तु कोई महाशय लम्वकांचन देशको द्वारिकाका निकटवर्ती अथवा उसका अपर नाम ही समझते हैं;[2]। पर यह नाम द्वारिकाका अथवा उसके आसपासवाले किसी देशका नहीं मिलता। इस कारण लम्वकांचन देशको गुजरातमें मान लेना कठिन है। 'राजावली कथा' में भी समन्तभद्र स्वामीके भ्रमण सम्बन्धी वर्णनमें एक देश 'लाम्वुश' भी उल्लिखित हुआ है और यह मणुवकहल्ली नामक देश अथवा नगरके वाद गिनाया गया है।[3] इसका सादृश्य लम्वकांचनसे है। संभव है कि लाम्वुशका अपर नाम लम्वकांचन हो।

मणुवकहल्ली देश दक्षिण भारतमें स्थित प्रतीत होता है। अतएव लांवुश देश उसके समीप ही कहीं होना उपयुक्त है। यदि लम्वकाञ्चनको एक संयुक्त नाम माना जाय, तो प्रगट है कि 'लम्व' तो 'लाम्वुश' का द्योतक है और 'काञ्चन' जैनोंके प्राचीन केन्द्र कांचीपुरका परिचायक होसक्ता है। इस दशामें लम्वकाञ्चन देश दक्षिणमें ठहरता है और उसका वहांपर होना इसलिये संभव है कि कलिङ्गसे आया हुआ राजकुल दक्षिणके निकटवर्ती प्रदेशमें कहीं ठहरेगा, वह एकदम गुजरात नहीं पहुँच जायगा। दक्षिण भारतके तामिल देशमें ईसवी प्रारंभिक शताब्दियोंमें लम्वकर्ण नामक क्षत्रिय प्रसिद्ध थे, यह बात इतिहाससे सिद्ध है। उधर पट्टावलीमें

१–लमेचूओंका इतिहास, पृ० १२–१९। २–उत्कर्ष, वर्ष १ सं० ६ पृ० १४१। ३–रत्ना०, जीवनी पृ० ३२।

यह कहा गया है कि सं० १४९ में राजा लोमकरण या लम्ब-कर्णकी संतानको लम्बकाञ्चन देश छोड़ना पड़ा था और वह राज्यसे हाथ धोकर राजपूतानेकी ओर चले आये थे। आठवीं शताब्दिके कवि धनपालने 'भविष्यदत्त चरित्र' में लम्बकर्ण क्षत्रियोंको उज्जैनके आसपास वसा लिखा है। अतः यह संभव है कि दक्षिण भारतके लम्बकर्ण क्षत्रियोंका सम्बन्ध पट्टावलीके राजा लम्बकर्णसे हो। अपना राज गंवाकर इन क्षत्रियोंने वणिकवृत्ति गृहण कर ली थी। इसी कारण यदुवंशी लोमकरण या लम्बकर्णकी सन्तान लमेचू आज क्षत्री न होकर वैश्य है। इनका जन्म भी ईसवी सन्‌के प्रारम्भमें हुआ प्रगट है।[1]

इसी प्रकार अन्य जातियोंकी उत्पत्तिका पता लगाया जासक्ता है; किंतु यह वात नहीं है कि सव ही जैन जातियां राजभ्रष्ट क्षत्रियोंकी संतान हैं। प्रत्युत जैसवाल, पोरवाल आदि जातियां मूलमें वैश्य वर्णकी हैं। उनका नामकरण जायस व पोर नामक ग्रामोंकी अपेक्षा हुआ है। मागधी व्यापारियोंकी जाति तो पहलेसे प्रख्यात थी। ये वड़े वीर, पराक्रमी, चालाक और नीति-निपुण थे। पिता-अपेक्षा यह व्यापारी थे और माता इनकी क्षत्री थीं।[2] इस प्रकार उपजातियोंकी उत्पत्तिका इतिहास है। यह सनातन नहीं हैं; वल्कि विशेप कारणोंसे हजार डेढ़हजार वर्ष पहले इनका जन्म हुआ था। इनके इतिहाससे प्रकट है कि एक वर्णके व्यक्ति किस तरह दूसरे वर्णके होसक्ते हैं!

१-वीर, भा० ७ पृ० ४७०-४७१। २-ऐरि०, भा० ९ पृ० ७९।

(४)

गुप्त साम्राज्य और जैनधर्म ।

(सन् ३२०–५०० ई०)*

गुप्त राजवंशका आदि- पुरुष चंद्रगुप्त प्र० ।

ईसाकी प्रारम्भिक शताब्दियोंके अंधकारापन्न इतिहासको पार-कर जब हम कुछ उजालेमें पहुंचते हैं, तो एक नये वंशको भारतमें राज्याधिकारी पाते हैं । यह था गुप्तवंश ! गुप्तवंशीय राजाओंके नामोंके अंतमें गुप्तनाम रहता था, इस कारण यह वंश 'गुप्त' नामसे प्रख्यात हुआ था । इस वंशका सर्व प्रथम राजा चंद्रगुप्त नामका था । इतिहासमें यह चन्द्रगुप्त प्रथमके नामसे परिचित है । ईसवी तीसरी शताब्दिके लगभग पाटलिपुत्रपर जैन धर्ममें ख्याति प्राप्त लिच्छवि वंशका अधिकार था । चंद्रगुप्त प्रथ-मने इसी लिच्छविवंशकी राजकुमारी कुमार देवीसे विवाह करके पाट-लीपुत्रको अपने आधीन किया था । इसी राजासे गुप्तराज्यका नींवा-रोपण हुआ था । इस राजाने अपना संवत् चलाया था; जिसे कति-पय विद्वान् २६ फरवरी सन् ३२० ई०से आरम्भ होना बताते हैं । संभवतः इसी तिथिको चन्द्रगुप्तका राज्यतिलक हुआ था । उसने

---

* मम० जायसवालजीने आंध्रवंशके अन्तिम राजाका समय सन् २३१–२३८ ई० प्रगट किया है । (जविओसो० १६–२७९७ और आंध्रोंके पश्चात गुप्त राजाओंका राज्य हुआ शास्त्रोंमें कहा गया है । इस अपेक्षा 'हरिवंशपुराण' में गुप्तोंका राज्यकाल जो २२१ वर्ष लिखा है वह प्रायः ठीक बैठता है ।

'महाराजाधिराज' की पदवी धारण की थी और अपने नामके सोनेके सिक्के चलाये थे । दक्षिण विहार, अवध, तिर्हुत और उसके निकटवर्ती जिलोंमें उसका राज्य था । चन्द्रगुप्तने कुल दस या पंद्रह वर्ष राज्य किया था ।

समुद्रगुप्त ।

उसके बाद चन्द्रगुप्तका बेटा समुद्रगुप्त राजा हुआ । यह बड़ा योग्य और यशस्वी शासक था । विद्वान् लोग इसे हिंदू नेपोलियन अनुमान करते हैं । यह विद्वान् और प्रतिभाशाली कवि भी था । संगीत विद्यासे भी उसे बड़ा प्रेम था । उसने सैकड़ों युद्धोंमें विजय प्राप्त की थी । इसके कारण उसके शरीरमें अनेक घावोंके चिह्न थे । पहले समस्त उत्तरी भारतको वश करके उसने दक्षिण भारतपर अपनी विजय पताका फहराई । उसने अश्वमेध यज्ञ भी किया था । और महाराजाधिराजकी उपाधि धारण की थी । इलाहाबादके किलेवाले स्तम्भ लेखसे प्रगट है कि उसे सब राजा अपना सम्राट् मानते थे। विदेशी राज्योंसे भी उसका संबन्ध था । बौद्ध ग्रन्थकार वसुबन्धुसे उसका घनिष्ट संबन्ध था ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य)

समुद्रगुप्तका उत्तराधिकारी उनका चंद्रगुप्त नामक पुत्र था । यह उनका ज्येष्ठ पुत्र नहीं था, परन्तु समुद्रगुप्तने उन्हें ही अपना युवराज बनाया था। उसकी उपाधि 'विक्रमादित्य' थी और वह सन् ३७५ ई०में गद्दीपर बैठा था । चन्द्रगुप्तने सौराष्ट्र, मालवा और काटियावाड़को जीतकर अपने राज्यमें मिलाया और क्षत्रपवंशी शक लोगोंको लड़ाईमें हराया था । उसकी

राजधानी उज्जैन व्यापारका केन्द्र था और उसमें विद्वानोंका अच्छा जमाव था। ज्योतिष विद्याका यहां एक अच्छा विद्यालय था। जिसमें नक्षत्रों और तारोंकी परीक्षा होती थी। प्राचीन कालसे पश्चिमके अगणित बंदरगाहोंके साथ उज्जैनका सम्पर्क था। चंद्रगुप्तके राजकालमें उसकी उन्नति खूब हुई।

चीनी यात्री फाह्यान।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके शासनकालमें फाह्यान नामक चीनी यात्री भारतमें आया था। चीन देशसे चलकर वह भारतके उत्तर पश्चिमीय सीमा प्रांतके मुहानेसे भारतमें प्रविष्ट हुआ था। वह छः वर्ष तक भारतमें घूमता रहा था। भारतमें आकर उसने बौद्ध धर्म और पाली एवं संस्कृत भाषाका अध्ययन किया था। बौद्धधर्म संबंधी अनेक ग्रन्थोंको वह चीन लेगया था। सचमुच फाह्यानका धर्म प्रेम अत्यन्त सराहनीय और अनुकरणीय है। इस यात्रामें उसे कुल १५ वर्ष लगे थे। उसने अपने भ्रमण—वृतांतमें तत्कालीन भारतका अच्छा वर्णन लिखा है। उसने भारतके 'मध्य देश' के सम्बन्धमें लिखा है कि प्रजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहारको लिखा पढ़ी और पंचायत कुछ नहीं है। वे राजाकी भूमि जोतते हैं और उसका अंश देते हैं, जहां चाहें जांय, जहां चाहें रहें। राजा न प्राण दण्ड देता है न शारीरिक दण्ड देता है। अपराधीको अवस्थानुसार उत्तम साहस वा मध्यय साहसका अर्थ दण्ड दिया जाता है। वार वार दस्युकर्म करनेपर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। राजाके प्रतिहार और सहचर वेतन भोगी होते हैं। सारे देशमें सिवाय चांडालके कोई अधिवासी न जीव हिंसा करता है, न मद्य पीता है और

न लहसुन खाता है। दस्युको चांडाल कहते हैं। वे बाहर रहते हैं और नगरमें जब पैठते हैं तो सूचनाके लिये लकड़ी बजाते चलते हैं कि लोग जान जांय और बचकर चलें! कहीं उनसे छू न जांय! जनपदमें सूअर और मुर्गी नहीं पालते। न जीवित पशु बेचते हैं। न कहीं सूनागार और मद्यकी दूकानें हैं। क्रय विक्रयमें कौड़ियोंका व्यवहार है। केवल चांडाल मछली मारते, मृगया करते और मांस बेचते हैं।"[1] यह उस समयके रामराज्यका वर्णन है।

पाटलिपुत्र भी उन्नतिपर था। अशोकका महल अभीतक मौजूद था। 'लोग धनाढ्य और सुखी थे। दानशील संस्थाओं और अस्पतालोंकी संख्या बहुत थी। पाटलिपुत्रमें एक ऐसा अस्पताल था, जिसमें भोजन और वस्त्र भी मुफ्त दिये जाते थे। राजा प्रजाके कामोंमें बहुत कम हस्तक्षेप करता था। सड़कें अच्छी थीं। डाकुओं और लुटेरोंका डर नहीं था। विद्याका भी खूब प्रचार था। पठन-पाठनका ढङ्ग मौखिक था। और प्रजाको धार्मिक स्वतंत्रता थी।'[2] फाह्यान लिखता है कि "मध्यप्रदेशमें ९६ पाखण्डोंका प्रचार है। सब लोक और परलोक मानते हैं। **उनके साधुसंघ हैं। वे भिक्षा करते हैं, केवल भिक्षापात्र नहीं रखते।** सब नाना रूपसे धर्मानुष्ठान करते हैं। मार्गोंपर धर्मशालायें स्थापित हैं। वहां आये गयेको आवास, खाट, बिस्तर, खाना पीना मिलता है। यती भी वहां आते जाते हैं और वास करते हैं।"[3]

फाह्यानके इस वर्णनसे प्रगट है कि मध्यदेशमें (मथुरासे दक्षिण) उस समय बौद्धधर्मके अतिरिक्त अन्य मतोंका प्रचार भी

१–फाह्यान, पृ० ३१. २–भाइ०, पृ० ९१–९२. ३–फाह्यान, पृ० ४६।